## जागृत महिला साहित्य

[ श्रीमती उषादेवी मित्रा का नवीनतम उपन्यास। नारी-जीवन की विवशता, प्रेम और जातीय-वृत्ति का ऐसा सुन्दर सामञ्जस्य और किसी भी पुस्तक में दुर्लभ है। ]

# जीवन की मुस्कान

लेखिका

उषादेवी मित्रा

प्रकाशक :— सरस्वती प्रेस, बनारस

शाखाएं :- बनारस सिटी • इलाहाबाद • लखनऊ • दिल्ली

Page 5, 10, 21 28 36
8, 45, 54, 80, 100, 122, 13
87,

# जीवन की

## मुस्कान

Jeevan kee muskan

उषादेवी मित्रा

Usha devee mitra

Sri Pratap Singh
Library
Srinagar.

सरस्वती-प्रेस, बनारस

Saraswati Press, Banaress 1945

कापी राइट
उषादेवी मित्रा
१९३९

acc. no: 15735
Rs 2-10-0
146

प्रथम संस्करण, १९३९
द्वितीय संस्करण, १९४२
तृतीय संस्करण, १९४५
[ मूल्य ढाई रुपया ]

Sri Pratap Singh
Library
Srinagar.

मुद्रक : श्रीपतराय
सरस्वती-प्रेस,
बनारस

# जीवन की मुस्कान

5393

SPS
891.433 U 8 J
15735

[illegible] मुझे भी तभी तो
तुम सताते हो मुझे

स्नेह जगाती मैं सदा हूँ
और फिर भी तब ही
है ना यह कुछ इसलिए ही
Page
तुम जलाते हो मुझे

हाँ हमीं हो जिंदगी में
तो हमीं आखिर बने
जिंदगी को जान देने
और जलाते हो मुझे

मैं सदा जीवित रहूँ तो
जिंदगी मरना बने
इसलिए ही तुम मार कर
फिर से जिलाते हो मुझे.

प्रीत का पीयूष मैंने
पी लिया, अब अपनी
है मरना का, इसलिए ही
[illegible]

# जीवन की मुस्कान

[ १ ]

जीवन के अणु-परमाणु में व्यंग की मुसकान रहती है या पृथ्वी जीवन में बसी मुसकराया करती है, इसका निश्चय यदि हुआ भी हो, या इसमें अनेक मतवाद हों तो हों; किन्तु उस दिन की विवाह-सभा में एक रँगीली मुसकान थी—इस बात को निश्चय से कहा जा सकता है।

शहर की प्रसिद्ध बाईजी पूरवी अपने लचकते हुए स्वर से ठुमरी में ठुनुक रही थीं, सारङ्गी-वादक झुका पड़ रहा था, तवलची का सिर डाक्टर कमलेश से टकराने ही को था, दर्शकों के नेत्रों में एक लालसापूर्ण खुशी थी। केवल एक व्यक्ति था पृथीश, जिसके नेत्र व्यथा में स्तिमित-से हो रहे थे। वह वर-यात्री के साथ आया था।

दीर्घ तीन वर्ष के बाद भारतवर्ष में लौटे पृथीश को महिना-दो-महिना हुआ था। ग्रेटवार में यह ब्रिटिश का सैनिक बनकर गया था। महायुद्ध में एक आँख गँवाकर जब वह लौटा, तो अपना देश उसे जाने कैसा सूना, निर्जीव-सा लगने लगा।

गान की भाषा को नाना प्रकार रूप, रंग, रस से भाव द्वारा प्रकाशित कर पूरवी गा रही थी—

'अजब रँगीली अँखियाँ तोरी।'

हिना की सुगन्ध में सभा की वायु बस-सी गई और उस वायु के प्रत्येक कम्पन में अनेक मादकता, अनेक उच्छृङ्खलता, अनेक चुम्बन, अनेक आकर्षण मड़राने-से लग गये। एक चित्र सभा के सामने खिच गया, जिस चित्र में शराब भरी पिचकारी लिये भाव-विलासमयी सुन्दरी होली खेलने में झूमने

लगी। उसके नूपुर-सिञ्जन में चुम्बन की मोह-मिठास मूर्त हो उठी, और उस मिठास को आकण्ठ पान करने के लिए सभा आतुर होने लगी।

पृथीश एकदम चिल्ला पड़ा—बस, बस करो बाईजी! छिछोरेपन की भी हद रहती है। इस शीतल रक्त को तुषार-शीतल मत करो, उसमें जीवन की एक कम्पन, अग्नि का एक स्फुलिंग, आँधी का उद्दाम, बूँद भर उष्णता आने दो और आने दो जीवन की हरियाली।

बीच में इस रस-भंग से सभा विरक्त हुई।

डाक्टर कमलेश हँसा—अभी महायुद्ध से लौटे हो, तो गरम खून का नशा लगा हुआ है। गान क्या कोई अभिशाप है? कमलेश उसके बचपन का मित्र था, दोनों साथ-साथ पढ़े, बीच में दीर्घ विच्छेद हो गया। कमलेश जब विलायत पढ़ने गया था, पृथीश तब देश में रहा। और जब कमलेश डाक्टर की लम्बी डिग्री लेकर देश लौटा, तो पृथीश ग्रेटवार में चला गया।

'नहीं, अभिशाप कैसा? वह है जीवन का आशीर्वाद। नहीं-नहीं, मैं कहता हूँ संगीत ही में जीवन बसा हुआ है, और जीने का जो उद्देश्य है, उस सत्य को हम उससे पा सकते हैं।'—पृथीश ने कहा।

जीवन का सत्य? डाक्टर विचार में पड़ गया। इसी सत्य को तो वह खोजता फिर रहा है—सत्य क्या है, सत्य···सत्य? बात उसे बड़ी अच्छी लगी। सत्य को वह देखना चाहता है, जानना चाहता है, मनुष्य है ही क्या? उसकी अविश्वासी आत्मा शायद दुनिया ही को अस्वीकार करना चाहती है।

'यदि उस सत्य को हम गान से पा सकते हैं तो तुम उसे रोकते क्यों हो?'—देर के बाद कमलेश ने पूछा।

'किन्तु इस छिछोरेपन में कहाँ है वह सत्य? इस लचकती हुई ठुमरी में कुछ गम्भीरता, एकाकी आत्मा की वह चिरन्तन पुकार कहाँ है? इसका जो एक बाहरी सौन्दर्य है, चंचलता, उच्छृङ्खलता है, वह है मोह, कि जो एक चंचलता से हमें पागल बना देता है। क्या यही है जीवन और जीवन का उद्देश्य?'

बाईजी श्रेष्ठा मुसकराईं। इतनी देर के बाद बोलीं; शान्त धीर स्वर में

वह कहने लगीं—परन्तु इसी मिठास में तो आप लोग डूबे रहना चाहते हैं न ? किसी एक के लिए गम्भीर ख्याल और ध्रुवपद के पुरुष प्रधान को मूर्त करना बातुलता के बिना क्या समझा जा सकता है ?

यह तर्क-वितर्क डाक्टर को, उपस्थित जनता को आकर्षक लग रहा था, वे चुप रहे।

'केवल इस शहर में नहीं, वरन दूर देशों तक में विदुषी और संगीतज्ञ बाईजी श्रेष्ठा पूरवी का नाम प्रसिद्ध है और यह भी झूठ नहीं है कि वास्तविक कलाकार अपनी कला में दर्शक व श्रोता को समा-सा लेता है। क्यों ? क्योंकि वास्तविक कला का सच्चा गुण, स्वभाव और धर्म यही है।'

'क्या मैं पूछ सकता हूँ संगीतज्ञ बाईजी से कि प्रेम के समान गम्भीर ख्याल की गम्भीरता में श्रोता को ओत-प्रोत न कर ठुमरी की चंचलता चपलता में, अस्थिरता और बाहरी सौन्दर्य में उसे अधःपतन के निम्न स्तर में क्यों उतारती लिये जा रही हैं ?'—पृथीश ने पूरवी से पूछा।

'क्या एक मुझ ही पर पृथ्वी की भलाई-बुराई निर्भर है ?'—पूछा पूरवी ने।

'है।'—वैसे ही पृथीश ने कहा।

'है !'—पूरवी के स्वर में विस्मय था।

'क्यों नहीं ? तुम भी मनुष्य हो और मनुष्य मात्र शक्ति-प्रकाश का एक-एक केन्द्र स्वरूप है। आज हम आमोद-प्रमोद में डूबकर पशु-तुल्य हो रहे हैं। शेष केवल नकल और मिठास रह गया है। मैं पूछता हूँ—इस नकली मिठास को लेकर जीने का स्वांग कब तक चलेगा ?'

नकली मिठास ? डाक्टर को यह शब्द इतने सुन्दर लगे कि वह कुछ कहना-सुनना भूल गया।

पूरवी की परिहास-प्रवृत्ति जाग पड़ी। व्यंग से हँसी, फिर बोली, एक हठीली बालिका-सी—जब तक जीवन का अन्त न हो जाय। परन्तु आप ही कहिये महाशय जीवन है क्या ?

'जीवन ? जीवन है सत्य, जीवन है सुन्दर, जीवन है शिव।'

'यदि वह सत्य है, सुन्दर है तो मृत्यु कैसे हो जाती है ? सत्य की मृत्यु तो है ही नहीं, और मैं उसी सत्य को देखना चाहती हूँ ।'

'जीवन का विनाश नहीं है ।'—जोर से पृथीश ने कहा ।

'जीवन का विनाश नहीं है ?'—डाक्टर उच्च स्वर से हँसा । हँसी रुकी तो पूछा—तो मरने को क्या कहते हैं ?

'मृत्यु । मृत्यु है शरीर का नियम । जीवन शरीर में बसा हुआ है, बस इतना ही । शरीर से जीवन निकल जाता है, किन्तु मौत के वह परे है । जन्म और जन्मान्तर में वह जीवित रहता है ।'

'अफ़ीमची-सी बातें करते हो पृथीश !'—डाक्टर कहने लगा—प्रमाण क्या है ? मैं अपनी आँखों देखना चाहता हूँ कि जीवन जन्मान्तर में जीवित कैसे रहता है ।

'देखनेवाले देखते ही हैं, परन्तु तुम अविश्वासी उसे नहीं देख सकते । उस अन्तहीन परमात्मा की जो अविश्वासी कल्पना तक नहीं कर सकता है उसे वह देख कैसे सकता है ? जीवन तो उसी परमात्मा का अंश है न, और इसलिए वह मृत्यु-हीन है ।'

'तो विश्वासी उसे देख पाता है ?' डाक्टर के स्वर में व्यंग साकार हो रहा था ।

'हाँ ।'

'फिर यों कहो कि वह वास्तव में देखता कुछ भी नहीं है । जो कुछ वह देखता है, वह केवल अपने विश्वास ही के एक रूप को देखता है । मैं कहता हूँ और जोर के साथ कहता हूँ, अपने इसी अविश्वासी मन को लेकर उसे मैं देखूँगा । जानूँगा मनुष्य क्या है । उसकी नसों के टुकड़े-टुकड़े कर देखूँगा, जीवन किस वस्तु का नाम है । वह केवल हवा है ? नहीं, मैं इसे नहीं मानता । यदि वह वायु है तो उसमें ऐसी शक्ति नहीं है जो वह मेरी मुट्ठी में से निकल-कर भागे । मुट्ठी से पीसकर उसकी रग-रग में देखूँगा क्या है ?'—कमलेश ने कहा ।

'यह तो पागलों का प्रलाप है कमलेश, और तुम क्यों चुप हो गईं पूरवी ?'

See Page - 58

पूरवी मिष्ट हँसी। उसके गाल के दोनों ओर गड़हे पड़ गये और उन छोटे गड़हों में हँसने का पूरा माधुर्य बूँद-बूँद कर चू-सा पड़ा। बोली वह—आप लोग तो मुझे कुछ कहने का वक्त ही नहीं देते।

'कहो न भई, मैं चुप हूँ।'—पृथीश ने कहा।

'और मैं कहती हूँ जीवन है स्वाँग'।—एक नटखट बालिका-सी पूरवी कह उठी। अपनी बात से वह स्वयं ही खिलखिला पड़ी।

'परन्तु व्यंग करने का भी समय रहता है।'—विरक्त स्वर से पृथीश ने कहा।

'व्यंग? नहीं, मेरे निकट यह व्यंग नहीं है। आप कहते हैं जीवन सत्य, शिव, सुन्दर है। किन्तु मैं पूछती हूँ—क्या वह मोह, मस्ती, तृष्णा नहीं है?' —पूरवी गम्भीर होना चाह रही थी, किन्तु फिर भी उसके नेत्र परिहास से मचल-से रहे थे।

कमलेश खुशी से उछल पड़ा—ठीक है, ठीक है, शाबास बाईजी!

एक बार वितृष्णा से पृथीश ने उन दोनों को देखा फिर बोला—हाँ, वह तृष्णा है, परन्तु है वह तृष्णा सत्य—सुन्दर की, वीरत्व की, लालसा की नहीं। और मोह तो दुर्बल चित्त की भावना है।

बाईजी खिन्न हँसीं—उसी एक सत्य, सुन्दर की, धर्म की भावना ने तो हिन्दुस्तान को गुलामी में जकड़ दिया है महाशय! जीवन को धर्म का एक स्वाँग-सा बना रखा है तो क्या यही स्वाँग-सा जीवन सत्य की परिभाषा है? पृथ्वी में बसे हुए जीवन में से मस्ती, मोह और तृष्णा छाँटे ही कैसे जा सकते हैं? उसी में तो उसकी परिणति है और इसी लिए जीवन जीवन है।

'भूल है बाईजी' गहरी भूल।'—शान्त स्वर से पृथीश कहने लगा—वह तृष्णा वीरत्व से ओत-प्रोत है। वीरत्व का जन्म है सत्य, सुन्दर और धर्म से। इन वस्तुओं के फैल जाने से आज दिन जीवन एक खेल-सा हो रहा है। मोह से भरा खेल है यह। सोचो तो सही उस गम्भीर जीवन में इस छिछोरेपन का स्थान कैसे हो सकता है? ठुमरी मोह को उपजाती है। ख्याल का पुरुष प्रधान वीर-रस से ओत-प्रोत है। हाँ, वह मस्ती है, परन्तु उच्छृङ्खल मस्ती नहीं। वीरत्व और शिव-सुन्दर—सत्य की मस्ती से मस्ताना रहता है। नारीजनोचित

ठुमरी की आज जरूरत नहीं है। आज प्रयोजन है ख्याल के एकनिष्ठ साधक सत्य—शिव का आज प्रयोजन है। नकली मिठास की जरूरत नहीं है, जरूरत है असली की।

'परन्तु ख़याल तो उन्हीं सत्य, शिव, सुन्दर के माननेवालों के लिए है, उन्हीं लोगों के लिए जिनने कि जीवन को कुसंस्कारों में बाँधकर दुर्भर कर दिया है और उसी धर्म के कानून में जकड़े बैठे देश को लुटा दिया है। जीवन को क्षीण, दुर्बल, अशक्त—एक बोझसा कर रखा है। आज जरूरत है मस्ती की, जीवन को नियम-कानून में जकड़े हुए कल-पुर्जे के समान समझने की नहीं। उसके वास्तविक चेहरे को देखने की जरूरत है आज। मोह, मस्ती, तृष्णा ही है जीवन का सत्य रूप। तो हम ठुमरी क्यों न गायें ?'

एक असहिष्णु व्यक्ति चिल्ला पड़ा—आप दोनों ने यह कैसा सड़ा पचड़ा खोल रखा है ? मैं कहता हूँ ज़िन्दगी न कोई बाघ है, न चीता। न वह धर्म है, न कर्म, न पहाड़ है न मैदान ; न वह चक्की है न चूल्हा। है वह एक रङ्गीली खुशी। जब तक जिओ, खुशी मनाओ। खाओ, पियो, गाना सुनो, मौज करो, बस। अरे बाबा, ईश्वर के घर जब जाओगे, तब कहीं यदि वह पूछ बैठे कि दुनिया में जाकर तुमने किया क्या ? क्या जबाब दोगे भला ? यही कहोगे न कि ब्याह के घर जाकर किया बस तर्क। फिर इससे फ़ायदा क्या ? वह चिढ़ न जायगा ?

'मैं तो यहीं कहूँगा कि जिन्दगी में मैंने खुशी मनाई, जिन्दगी को मैंने खुशी के भीतर से उपलब्ध किया। बस—वह भी खुश हो जायगा।'

उस व्यक्ति की बातों से सभा उच्च स्वर से हँस पड़ी। और इसके बाद पूरवी ने एक गज़ल छेड़ दिया।

[ २ ]

अपनी सारी सृष्टि पृथ्वी को लुटाकर उस अर्द्ध रात्रि की प्रकृति भिखारिन-सी हो रही थी।

अमावस्या के गाढ़ अन्धकार में सृष्टि डूब-सी रही थी। चहुँओर गहरी

अन्धेरी और गम्भीर नीरवता। उस नीरवता में केवल पवन था भाषामय और निशाचर जीव थे वाणीमय।

सन-सन-सन-सन सनसनाता पवन गीत गा रहा था, वृक्षों पर चमगीदड़ फट-फटा रहे थे और पेचक अशुभ चीत्कार से अपनी सत्ता जताने में लगा था।

उस अन्धकार को चीरते हुए मित्रद्वय चले जा रहे थे। वे दोनों साथ-साथ विवाह-सभा से उठे थे। कमलेश ने अपनी कार माता के लिए विवाह-घर में छोड़ दी थी। पृथीश के पास कार थी नहीं। थोड़े दिन तो हुए ही थे उसे देश लौटे। पृथ्वी में वह अकेला था—बिलकुल अकेला। बैङ्क में यथेष्ट रुपये थे, एक बँगला था। कमलेश के बँगले से कुछ दूर पर। दासी, दो भृत्य, बस।

और कमलेश? फिर वह तो धनवान ही ठहरा। एवं स्वयं एक प्रसिद्ध डाक्टर। माता थीं और वह।

'समझे पृथीश ?'—पहले जाने क्या बातें हो रही थीं। कमलेश ने कहा—समझे पृथीश ?

'कुछ-कुछ। याने तुम इस अन्धकार की तह तक पहुँचना चाहते हो, यही न ?'—शायद पृथीश के ओठों पर व्यंग की हँसी थी, किन्तु उस सूचि-भेद्य अन्धकर में इस बात का निर्णय करना कठिन था।

'नहीं-नहीं, तुम कुछ नहीं समझे! तह तक नहीं, इस अन्धकार को मैं छिन्न-भिन्न कर देखना चाहता हूँ, यह है क्या ? और तुम देखना पृथीश, एक दिन इस अन्धकार के काले स्तर किस तरह मेरे पैर के तले बिथर पड़ते हैं। तुम हँसते हो ? किन्तु पृथीश, मनुष्य के असली रूप को देखे बिना मुझे चैन नहीं, इस अन्ध जीवन को मैं पशु का जीवन समझता हूँ ?'

'याने तुम इस सृष्टि को पैर तले रौंदना चाहते हो ?'

'शायद ऐसा हो। परन्तु मैं चाहता हूँ पृथ्वी का असली रूप देखना।'

'तो तुम परमात्मा के ऊपर भी हुकूमत करना चाहते हो।'

कमलेश झुँझला पड़ा—'कैसी आत्मा और कहाँ का परमात्मा ? मैं तो

प्रत्येक का असली रूप देखना चाहता हूँ भाई, और बस। न व्यंग से मुझे कुछ सम्बन्ध, न परिहास से।'

'शादी के बाद देखना है कि किसका असली रूप तुम देखना चाहते हो। देर भी नहीं है, तुम्हारी शादी के कुल पन्द्रह दिन रह गये हैं।'

'शादी? नहीं, मा ने उनको नहीं कह दिया है। शादी तो मा के लिए करूँगा पृथीश, उससे मेरा सम्बन्ध कुछ न रहेगा।'

अन्तिम शब्द को पृथीश ने सुना न सुना एक अचम्भे से वह पूछ बैठा—मा ने नहीं कह दिया? परन्तु किस लिए? वैसी सुन्दर, धनवान की अकेली लड़की, कारण क्या है? फलदान तक हो गया।

'सो मा जाने। उसके पिता ने आत्महत्या कर ली थी, सो मैं जानता हूँ।'

'आत्महत्या! चक्रवर्ती महाशय को अभाव तो कुछ था नहीं।'

'तुमने कुछ सुना नहीं पृथीश?'

'नहीं।'

'सुना है इन दिनों वह घुड़दौड़ में रुपया हारा करते थे। और धीरे-धीरे नक़द रुपये हारकर पीछे उन्होंने जमीन-जगह, घर-मकान सब बाजी पर रख दिया था, हारने का तार जिस दिन आया, उसी दिन उन्होंने आत्महत्या कर ली।'

'अब समझा। और इसी लिए एक विपत्ति की मारी, पितृहीन, निर्धन लड़की तुम्हारे घर नहीं आ सकी, परन्तु तुम्हें तो धन का अभाव नहीं है कमल!'

'समझे नहीं तुम, माताजी का कहना है—आत्मघाती की लड़की मेरे घर नहीं आ सकती।'

'और तुम्हारा?'

'मेरा? परन्तु मुझसे सम्बन्ध? केवल मा के लिए शादी करना है।'

'चलो—बात ही निपटी, और उस वाग्दान की लड़की का क्या होगा, विशेषकर ऐसी असहाय अवस्था में?'

'सो मैं क्या जानूँ।'

'तुम नहीं जानते? और इसी मन को लेकर तुम सत्य को पाओगे? वास्तविक को पैर तले रौंदकर तुम मिथ्या को अपना रहे हो, और वही तुम जीवन का सच्चा रूप देखना चाहते हो?'

कमलेश चुप रहा—कुछ विचारने लगा वह।

'तो मैं चलता हूँ!'—पृथीश ने कहा।

'सुनो तो।'

'मुझे देर हो रही है।'—उत्तर-प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही वह चल पड़ा।

अपनी धुन में मस्त कमलेश उस अन्धकार में आँखें गड़ाये चलने लगा।

कमलेश चला और चला ही जाता, किन्तु ठीक उसी समय वह एक दूसरे व्यक्ति से टकरा गया। पथ के दूसरी ओर से जो दौड़ता हुआ आ रहा था वह गिरने से बचा। उसके चीत्कार से कमलेश समझा—वह स्त्री है।

'हूँ।...हूँ।'—हाथों के सहारे कमलेश ने उसे रोका।

स्त्री ज़रा सँभली न सँभली उसके पैरों से लिपट गई—एक डाक्टर की मुझे ज़रूरत है, मा मर रही है?

'कहाँ जा रही थीं?'—कमलेश ने पूछा।

'डाक्टर का घर मुझे मालूम नहीं। बतला दो।'

'नहीं मालूम? तो किसके लिए भागी जा रही थीं?'

'सो मैं नहीं जानती।'

विस्मय से कमलेश ने उस ओर देखा, किन्तु अन्धकार के सिवा कुछ देख न पाया, कहा—अच्छा चलो, मैं चलता हूँ।

'आप? क्या आप डाक्टर हैं!'—स्त्री आश्वस्त स्वर से कहने लगी—तो जल्दी चलो। डाक्टर ही हो न?

'ऐसा तो लोग कहते हैं।'

'ऐसा कहते हैं? और आप नहीं जानते।'—अत्यन्त विस्मय से स्त्री ने कहा। कमलेश के उन्मादी होने का उसे सन्देह हो रहा था।

अनमने-से कमलेश ने उत्तर दिया—नहीं। चलो, कहाँ चलना है?

ऐसे दुख में भी एक विस्मय लिये स्त्री डरती हुई उसके साथ हो ली।

[ ३ ]

दरिद्र पल्ली। छोटे-छोटे टीन के घर। अधीर गति से स्त्री उन एक में प्रवेश कर बोली—

'आइये, जल्दी-जल्दी चले आइये।'

घर के भीतर क्षीण प्रकाश हो रहा था। भू-शय्या पर एक स्त्री पड़ी थी। थोड़े-से कपड़े एक कोने में रखे थे। बासन-भाँडे का नाम भी नहीं। जल का घड़ा, एक गिलास, लोटा, भुने हुए चने, लाई, मुरमुरे घर में बिखरे हुए पड़े थे, और बस।

घर में प्रवेश कर कमलेश रोगी देखना भूल गया। एक अचम्भे से चहुँ-ओर देखने लगा।

'मा...मा...मा।'—लड़की पुकारने लगी। बड़े कष्ट से रोगिनी ने आँख खोली।

'अब तुम अच्छी हो जाओगी मा! डाक्टर आये हैं।'

कमलेश कुछ सचेत-सा हुआ। 'घबराओ नहीं'—बोला वह। और रोगिनी को देखने के लिए झुका। रुग्णा ने डाक्टर को देखा और उसी पल उसके नेत्र भय, व्यथा, घृणा से विस्फारित हुए।

'मेरे मरते वक्त यह किसे लिवा लाई है तू सविता?'—हाँफते-हाँफते वह कह चली—हटो-हटो, दूर हो, तुम्हें देखना नहीं चाहती, दूर...दूर हो। एक आर्त चीत्कार, उसके बाद स्त्री एकदम नीरव हो गई।

कमलेश ने अपना कर्तव्य पूरा किया। स्त्री की साँस रही हो चाहे न रही हो; घुमा-फिराकर डाक्टर उसका नब्ज देखने लगा।

विस्मय का एक घना धक्का सविता को लगा, फिर वह माता से लिपटकर फूट-फूटकर रोने लगी।

कुछ देर तक कमलेश इस दृश्य को देखता रहा।

देर के बाद कमलेश ने सविता को माता से अलग किया। कहा—उस मुर्दे से लिपटकर क्या करोगी ? उनकी मृत्यु हो गई।

सविता एकदम चुप हो गई; यह निर्दयी डाक्टर कह क्या रहा है ? पिता को मरे अभी महीना भर तो हुए ही हैं और अभी-अभी मा की मृत्यु ? मृत्यु हो गई ? तो यह डाक्टर आया किस लिए था यहाँ पर ? जो मृत्यु धीरे-धीरे आ रही थी और अन्त तक उसकी असहाय अवस्था देखकर शायद माता को उसके लिए छोड़कर लौट भी जाती, लौट जाती—जैसे आती वैसे ही धीरे लौट जाती, उसी अनिश्चित मृत्यु को निश्चित करने के लिए यह व्यक्ति आया था क्या ? माता विकार में थीं ? कदाचित ऐसा हो। परन्तु निमित्त का भागी यही व्यक्ति है न ? इसे देखकर माता के नेत्र में घृणा, व्यथा, भय का अपूर्व समावेश हुआ था न ? तो क्या वह स्वयं गहरी रात के छोर से यम को पुकारकर ले आई ? पल-पल में यह विचार मन में उठे और भय से सविता काँप उठी। रोना वह भूल गई, विराग, वितृष्णा से हटकर खड़ी हो गई।

रात बढ़ने लगी, उस नीरव रात्रि के सन्नाटे में पृथ्वी के अणु-परमाणु में एक व्यङ्ग की मुसकान मुसकराने लगी और कमलेश सविता एक-दूसरे के सामने खड़े रह गये।

कमलेश चलते-चलते लौटा—मैं जा रहा हूँ।

सविता नींद से जागी-सी—जाते हो, और मुझे अकेली छोड़कर ?

एक अपरिचित स्त्री के मुँह से इस अधिकार-पूर्ण प्रश्न को सुनकर कमलेश स्तब्ध रह गया। विचार तक न पाया कि कौन-सी ऐसी स्थिति है, जो कि अपरिचय की परिधि को पार कर इस जिज्ञासा के अधिकार को दे सकी है। परिहास से कमलेश का श्वास मचलने लग गया। उसे प्रबल इच्छा होने लगी कि चिल्लाकर कहे—तुम चाहे कहीं रहो, मरो या जियो, मुझसे मतलब ? मैं तो एक डाक्टर हूँ ? बिना फीस के आ गया इतना बहुत है।

किन्तु फिर भी न जाने क्यों वह चुप रह गया—जनम का बहरा, गूँगा-सा।

और सविता ? वह उसके निकट आकर खड़ी हो गई। यद्यपि उसके नेत्र में इस व्यक्ति के लिए भय और घृणा थी, किन्तु फिर भी वह चली ही आई और अनायास उसका एक हाथ पकड़कर बोली—अकेली स्त्री मैं यहाँ कैसे रहूँगी ?

'नहीं रह सकोगी ? तो मेरे घर चली चलो।'—एक कौतुक से कमलेश कह उठा।

'तुम्हारे घर ?'

'हाँ, मेरे घर।'

'वहाँ मैं रह सकती हूँ ?'

इस विचित्र प्रश्न को सुनकर कमलेश चकराया-सा उसका मुँह निहारने लग गया—आखिर यह स्त्री चाहती क्या है ?

देर के बाद वह बोला—क्यों नहीं रह सकोगी, हम लोग भी तो हैं न उस घर में। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या जवाब दे।

'अच्छी बात है।'—आश्वस्त स्वर में सविता ने कहा।

'देर क्यों कर रही हो ? चलो।'

'और मा ?'

'अरे भाई, इस मुर्दे को लादकर ले जाना पड़ेगा क्या ?'—श्रान्त-स्वर में कमलेश ने कहा। वह इस विचित्र स्त्री से थक-सा गया था।

'किन्तु मा को छोड़कर मैं जाऊँ कैसे ?'

'इसके लिए मैं क्या करूँ ? मुर्दे का बोझ मैं नहीं ढो सकता ?'—डाक्टर झुँझला पड़ा।

'मा को मैं यहीं छोड़ जाऊँ ? आप कहते क्या हैं ?'

'आखिर तुम चाहती क्या हो ?'—हताश भाव से कमलेश वहीं पर बैठ गया।

सहमकर सविता ने कहा—माताजी का दाह करना है, मेरी अभागिनी मा, जिनके घर एक दिन हजारों दीन, दुखी पलते थे, वे ही आज दवा, पथ्य के बिना झोपड़े में मर गईं। मा-मा—मेरी मा, राजरानी मा मेरी, मरी तुम

मेरे ही लिए। घण्टे भर पहले तक वह बोली थीं, बोली थीं। कहते-कहते सविता सिसक-सिसककर रोने लगी। और विरक्त, क्लान्त, विस्मय-स्तब्ध डाक्टर उसके चुप होने की प्रतीक्षा करने लगा।

[ ४ ]

प्रातः के रजत-शुभ्र मुहूर्त में एक सरस्वती की-सी श्री से कमलेश का गृह-प्रांगण आलोकित हो रहा था। और उस शान्त, स्निग्ध श्री के सामने कमलेश की माता सत्यभामा हतवाक् थीं—रोमाञ्चित, प्रभावित।

उन्हें लग रहा था पद्मवन से स्वयं सरस्वती उनके घर भूल पड़ी हैं। वैसे ही घने पल्लवों से घिरे सुन्दरतर नयन और उन आयत नेत्रों की वैसे ही बुद्धि-विकीर्ण स्निग्ध दृष्टि, शिल्पी की सूक्ष्म तूलिका से खींची-सी सुदीर्घ भ्रू, गुलाब की पँखुड़ी जैसे कपोल। सुदृश्य नासिका। घने, लम्बे, रूखे केश, हाथ में काँच की लाल चूड़ियाँ। कान, गला सूना।

सरस्वती? हाँ—हाँ; सरस्वती। सरस्वती-प्रतिमा के अङ्ग-प्रत्यङ्ग, आकृति तो ठीक ऐसी ही वीणा-सी मीठी हुआ करती है न। परन्तु वीणा? कदाचित् पद्मवन में बिसर आई होंगी। सत्यभामा ने पल-पल में विचारा।

भाव-तन्मय स्वर से सत्यभामा ने लड़के से पूछा—सरस्वती को तू कहाँ से उठा लाया?

'सरस्वती? तुम भूल करती हो मा; इसका नाम सविता है।'

'सविता है?'—गृहिणी कुछ सहमी-सी—इसे कहाँ से लाया?

'टीन के घर से। कल रात में इसकी मा मर गईं। ग़रीब की लड़की है और अकेली है।'

'दरिद्र है।'—पल-पल में गृहिणी के मुख-भाव का परिवर्तन हो गया। श्रद्धा-सम्मान का स्थान अवहेलना ने अधिकृत कर लिया। और उस अवहेलना को देखकर सविता का मन अपमान से भर उठा। दरिद्र-कुटीर से वह आई अवश्य थी, परन्तु मन तो उसका दरिद्र नहीं था न। दरिद्रता में पिसकर भी मन पर उसके रह गई थी धन की छाप।

ताच्छल्य से सविता ने एक बार चहुँओर देखा—यह वैभव, यह इने-

गिने दास-दासी ? अरे, दो ही महीने तो हुए होंगे इससे कहीं चतुर्गुण अधिक वैभव के भीतर वह रहती थी। उसके पिता के समान धन-सम्पद इस शहर में था ही किसका ? पिता की बात के स्मरण से हृदय हाहाकार कर उठा। साथ ही रात की बात याद आ गई। अभी कल ही तो मा—उसकी मा ?... सविता रो पड़ी, फूट-फूटकर रोने लगी।

विरक्ति, विराग से सत्यभामा ने कहा—उठ भुनसारे रोना, राम, राम! यह कहाँ का कुलक्षण उठा लाया है। कमलेश ?

माता को और उस रोती हुई लड़की को कुछ कहना है, इतना तो कमलेश जानता था, परन्तु यह नहीं जानता था कि वह कहनेवाले शब्द क्या हो सकते हैं। एक असमंजस में पड़ा कमलेश दोनों का मुँह निहारने लगा।

उधर माता कह चलीं—नहीं बाबा, यह सब मेरे घर नहीं हो पायगा। एक बच्चा लेकर घर करती हूँ। सबेरे से रोना और रोना। ले जा इसे कमल, जहाँ से लाया है वहीं पटक आ। इस बार बोला कमलेश, बोलने के लिए उसे एक अवलम्बन-सा मिल गया—वहाँ ? परन्तु वहाँ यह कैसे रह सकेगी ?

'क्यों ?'—मा ने पूछा।

'वहाँ इसका है ही कौन ?'

'तो यहीं इसका कौन बैठा है ? तीन कुल में कोई नहीं, ऐसी को मैं क्यों रखूँ। जाने किस भङ्गी-चमार की लड़की है। इसे मैं नहीं रख सकती।'

सविता बिलकुल चुप हो गई। मान-अपमान छोटे-बड़े का, आत्म-मर्यादा का, शोक-विच्छेद का विचार मन से जाता रहा। रह गया मात्र एक अकेलापन। उस अकेलेपन को देखकर वह रोमाञ्चित हो गई। बाप रे, ऐसी बड़ी पृथ्वी में वह छोड़ दी जायेगी और बिलकुल अकेली छोड़ दी जायेगी। तो वह जायेगी कहाँ ? उस अकेलेपन में घुलकर उसका शोक, दुःख, सम्मान सब एकाकार हो गया, रही केवल अकेलेपन की विभीषिका। जिस पृथ्वी से उसकी जान-पहचान नहीं है, उसी पृथ्वी में वह अकेली छोड़ दी जायगी। फिर वहाँ उसकी श्वास रुक न जायेगी ? माता-पिता की स्नेह-छाया में, घर के कोने में रहती थी। दास-दासी के लाड़-प्यार से पली, मणि-मुक्ता पहनने-

वाली लड़की क्या जाने पृथ्वी को। स्कूल, कालेज ? नहीं, कुछ नहीं। घर में मास्टर लगे थे। कुछ पढ़ लिया करती, थोड़ी-सी सङ्गीत-चर्चा कभी कर लेती। माता के साथ बिरादरी में चली जाती। मोटर पर दासी के साथ घूमती। बस।

भय-शंका से सविता काँपने लगी।

'इसे छोड़ आ कमल !'

छोड़ आ ?—तो इस हिमालय पर्वत-सी पृथ्वी में वह अकेली छोड़ दी जायेगी ? वहाँ हजारों अजगर उसे निगलने दौड़ेंगे, रीछ के पैने दाँत उसे चीरकर टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे बचानेवाला कोई न रहेगा। अकेली रहेगी वह, बिलकुल अकेली। वह अकेलापन एक विकराल दैत्य-सा उसे निगलने दौड़ा। सविता कम्पित देह-मन से गृहिणी के पैरों से लिपट गई—मैं कहीं न जाऊँगी, अकेली मैं कहाँ जाऊँ ?

चकराई-सी सत्यभामा ने उसे उठाया—न जाओगी ?

'नहीं, कहीं न जाऊँगी।'

'अच्छी जबरदस्ती है।'—गृहिणी भुनभुनाने लगीं। परन्तु फिर भी जाने क्यों पूछा—कौन जाति की हो ? भंगिन-चमारिन-सी तो नहीं लगतीं।

'कायस्थ हूँ अम्मा।'

'कायस्थ है ? हम भी कायस्थ हैं। तो रह यहीं। किन्तु हाँ, यहाँ रोना-पीटना न हो सकेगा।'

सविता के नेत्र छलछला आये, मन विद्रोही बनने लगा और दूसरे पल अकेलेपन की भीति उसे सम्पूर्ण ग्रास कर बैठी। जिस भय ने उसकी स्वाधीन आत्मा तक पर अपना प्रभाव व्याप लिया।

भीरु पक्षी-सी वह कह उठी—मैं रोऊँगी भी नहीं अम्मा।

'अच्छा-अच्छा।'—सत्यभामा कहने लगीं—ऐसा ही तो चाहिये। मां-बाप किसके सब दिन जीते हैं ? चलो, नहा डालो, अभी तुम सूतक में हो। बारह दिन तक घर का कुछ छूना-छाना नहीं, समझीं न सुरसती ?

'कैसी भूलती हो मा, उसका नाम सविता है।'—कमलेश हँस रहा था।

मुँह बिचकाकर मा बोली—सुन लिया, सविता भी कोई नाम है ? वह नाम इसे सोहता नहीं है। ऐसी अच्छी लड़की जाने इसका भाग्य कैसा है !

इस सहानुभूति से सविता के आँसू फिर उमड़ पड़े। उसने मुँह फेर लिया।

[ ५ ]

रात्रि के निरालेपन में खुली खिड़की के सामने बैठी थी सविता। नेत्रों से आँसू की धारा बह चली थी। द्वार भीतर से बन्द कर लिया था। आकाश में तारे छिटक रहे थे। तृतीया का चन्द्रमा का था मन्द प्रकाश।

यहाँ रहते हुए उसे पन्द्रह-बीस दिन निकल गये थे। किन्तु फिर भी वह उन लोगों से हिल-मिल नहीं सक रही थी। सत्यभामा उससे सदय व्यवहार करतीं। दास-दासी उस पर स्नेह करते। कभी डाक्टर भी उसे अनमना-सा देख लेता, किसी दिन बातें भी करता। सुन्दर, सज्जित कमरे में वह रहती, अच्छे वस्त्र, भोजन, सब व्यवस्था अच्छी थी। किन्तु फिर भी उसका हृदय शोक, दुःख में भीतर ही भीतर पिसता रहता। अपने कमरे का कोना उसे अच्छा लगता। अधिकांश समय पक्षी-शावक की तरह वह उसी कोने में दबकी रहती।

दृष्टि आकाश पर निबद्ध किये सविता उस उज्ज्वल तारे को देख रही थी।

कहाँ था यह तारा अब तक ?—विचारने लगी सविता—नहीं था यह तारा आकाश में। अभी-अभी तो यह तारा आकाश के हृदय में बसने लग गया है। फिर यह ? हाँ। हाँ। मा ही तो है—उसकी मा, मा, उसकी मा—है। उसी की मा, जरूर वही है। देखते नहीं—पृथ्वी की निशुथी में खिड़की के सामने आकर उसे देख रही हैं ?

केवल उसी को वह देखेंगी। और देखती ही रहेंगी। और पिता ? वह भी निश्चय कहीं हैं। कहाँ ? वह जो बैठे हैं, बैठे-बैठे उसे निहार रहे हैं।

'मुझे बुला ले मा।'—आकुल-आग्रह से दोनों बाँह बढ़ाये वह खिड़की के सामने खड़ी हो गई। फूट-फूटकर, सिसक-सिसककर रोने लगी—बुला ले मेरी अम्मा, मुझे बुला ले। तुम्हारे साथ आकाश के एक ओर बैठी मैं इस

अनजान पृथ्वी को पहचाना करूँगी, देखा करूँगी। पृथ्वी पर छाया किये मैं भी उसके सुख-दुःख में रोया करूँगी, हँसा करूँगी। अपने छोटे हृदय पर छोटा दीवट उजियारे मैं भी रात-रानी की आरती उतारा करूँगी। सविता विकल होकर रोने लगी। वह पक्षी-सी चाहने लगी उड़कर आकाश तले पहुँच जाना। वाष्प रूप में चाहने लगी, तारों में समा जाय, वायु बन जाय।

बाहर कुछ आहट हुई। उस शब्द से सविता एकदम चौंक पड़ी—कोई बाहर खड़ा मेरा रोना तो नहीं सुन रहा है? यह विचार उसके मन पर व्याप गया। पल-भर में आँसू आँखों में समा गये। विवर्ण, भीत सविता डरती, काँपती पलंग के नीचे छिपने लगी; खरगोश की तरह तकिये के भीतर मुँह छिपाकर वह थर-थर काँपने लगी।

तृतीया का चाँद कब आकाश तले मेघ के नीचे छिप रहा इसकी खबर उसे कुछ न लगी। घर अन्धकारमय हो गया। अपनी तारा मा को देखने के लिए सविता का हृदय व्याकुल होने लगा। परन्तु फिर भी वह जा न सकी। उस ओर देख नहीं सक रही थी। आँखें खोल भी नहीं सकती थी। तकिये से वह चिपकी रह गई।

उसके रुद्ध नेत्रों के भीतर सहस्र बाँह बढ़ाये एक प्रकांड दैत्य उस आश्रय से उसे छीन लेने के लिए भृकुटी चढ़ाये खड़ा हो गया। सविता को लगा उसका रोना गृहवासियों ने जान लिया। और इसके बाद सविता के कम्पित श्वास में असंख्य विकराल हाथों की सृष्टि हो गई। जिसके सामने उसकी साँस रुकने लग गई। आँखें अपने-आप खुल गईं। वह आँखें फाड़-फाड़कर चहुँओर देखने लगी। उसे लगा अभी-अभी यह अन्धकार उसे जकड़ लेगा, और रुदन के दण्ड-स्वरूप उसे पृथ्वी-व्यापी काले अजगर के मुँह में छोड़ देगा। बस। एक क्षीण चीत्कार, उसके बाद सविता की सुध जाती रही।

घड़ी में चार की घंटी बोल उठी। उस शब्द से सविता की चेतना कुछ लौटी। मुर्गे, कागों ने प्रभात-वेला की सूचना दी। सविता ने चहुँओर देखा। कमरे में अन्धकार नहीं था। अपना घर उसे स्मरण हो आया। कैसी सुखी थी वह। बस वे तीन प्राणी, अनेक दासी-चाकर। वृहत् अट्टालिका पर, मणि-

मुक्ता-भूषित, आदर-स्नेह से पली वह। प्रातः से सन्ध्या तक हँसी-खुशी में मग्न रहती। उसे कमी क्या थी? हीरामन, मैना, बुलबुल, लाल मुनइयाँ, बिल्ली, कुत्ते, मोर, हिरन पले हुए थे। दिन भर वह उन सबसे खेला करती, कभी चारा-दाना उन्हें चुगाती। उसके पिता का बड़ा कारबार था।

इसके बाद उसके घर में खुशी की नदी उमड़-सी पड़ी। स्वप्न में रँगी-सी स्वप्नमयी लड़की। उसने अपने भावी पति के रूप-यौवन, शिक्षा, सम्पद के विषय में अनेक बातें दासी-चाकर के मुँह से सुनी थी। शहर के किसी अमीर से शादी पक्की हो गई थी। और उनका चित्र भी तो आया था न? हाँ वही तो था, जिस चित्र को देख-देखकर माता गर्व, आनन्द से फूली न समाती थी। उसने? नहीं, वह उनका चित्र कहाँ देख पाई? उसका जी चाहता था और बहुत चाहता रहा केवल एक बार उस चित्र को देखने के लिए; परन्तु देख न पाई।

और उस फलदान के दिन? उस दिन कैसे सुन्दर वस्त्र-भूषण उसे पहनाये गये थे। रानी बनी थी वह—रानी। फिर तब बहुत-से लोग आये थे। उसके भावी पति के घर से। घर में हजारों व्यक्तियों की पंगत बैठी थी। द्वार पर शहनाई बजी थी; उस खुशी के भीतर उसका फलदान हो गया था। वह किसी की ओर आँख उठाकर नहीं देख सकी थी, लज्जा से सिमट रही थी। आधा विवाह तो उसी दिन उसका हो गया था। तब से न जाने कैसी-कैसी कल्पनाओं में वह मस्त रहा करती। कभी मौर बाँधे एक सुन्दर पुरुष उसके द्वार पर आकर खड़ा हो जाता और कभी माता की गोद में वह बैठ जाती। कल्पना का इन्द्रजाल इस भाँति पुष्पित होता रहता।

अचानक एक दिन वह अशुभ घड़ी उपस्थित हो गई। माता हो गई उदास, पिता ने अपने को एक कमरे में रुद्ध कर लिया। और बाहर घण्टी बजी। नौकर तार लिये दौड़ा आया। बस, वही तार काल बनकर आ गया। दूसरे दिन प्रातःकाल से घर में रोना-पीटना मच गया। और वह विस्मित जब पिता के कमरे में दौड़ी-दौड़ी गई, तो वहाँ पाई उसने डाक्टरों की भीड़, पिता का शव और चेतना-हीन माता को।

15735

सप्ताह भी न कटने पाया था कि घर-द्वार नीलाम हो गया, फिर भी पिता का ऋण न चुक सका। लोग कहते थे घुड़दौड़ में उसके पिता सब हार गये। पीछे ऋण लेकर बाजी लगाया करते थे। तार में उनके दिवालिया होने की खबर थी। पुरानी दासी बोली—उन्होंने आत्महत्या कर ली।

और उसके बाद ? उसके बाद घर का सामान, ज़ेवर, बर्तन तक बेच-कर माता ने कर्ज़ चुकाया। अन्त में उसका हाथ पकड़े एक टीन की गन्दी झोपड़ी में चली गई थीं। फिर भी शायद माता जीवित रहतीं, परन्तु उसके भावी पति-घर के दारुण सन्देश ने उन्हें जीने न दिया। वहाँ से खबर आई कि उस जैसी दरिद्र लड़की उनके घर की वधू नहीं बन सकती। बस, माता जो धरती पर गिरीं, तो फिर न उठीं। तीन दिन यों ही बीते, चौथे दिन वह भागी-भागी बाहर गई और डाक्टर कमलेश को लिवा लाई। पैसे के चने चबाकर वह तीन दिन रहीं। सो भी पूरे कहाँ खाये गये थे। सविता और सोच न सकी। मा के लिए उसका जी रोने लगा। कमर में साड़ी का छोर लिपटा रहा, देह पर कुछ नहीं, इधर उसका ध्यान न गया। वह अधीर चरणों से खिड़की पर खड़ी हो गई—अपनी तारा-मा को देखने के लिए।

[ ६ ]

'आज आपके साथी नहीं हैं कमलेश बाबू ?'—बाईजी पूरवी ने पूछा।

शराब का ग्लास खाली कर कमलेश ने कहा—किसे पूछ रही हो ?

कमलेश के मित्र नीलाम्बर की उद्यान-वाटिका में पार्टी थी। शहर के धनी-मानी, चुने हुए सज्जन आये थे। साज-पोशाक के साथ अपना राज-राजेश्वरी-रूप विकीर्ण करती बाईजी पूरवी मध्य में बैठी थीं। शराब की बोतलें खाली होती जाती थीं। श्वेत वस्त्र पहने अरदली, खानसामे ट्रे थामे खड़े थे। किसी ट्रे पर शराब के ग्लास तो किसी पर सोड़ा आदि रखे थे। कमरे में मोटा ग़लीचा बिछा हुआ था, मखमल के मोटे तकिये। बिजली का उज्ज्वल प्रकाश था। बीच में बड़ा-सा झाड़ लटक रहा था, जिसमें पन्द्रह बिजली के बल्ब जल रहे थे। गुलदस्तों में फूल चुने हुए थे। बाहर के बगीचे में पेड़ों के नीचे टेबल, कुर्सियाँ यहाँ-वहाँ रखी हुई थीं। पेड़-पत्तियों में जाने कितने ही

बल्ब जल रहे थे। भृत्यवर्ग छोटी-बड़ी प्लेटों में भोजन-सामग्री रख रहे थे।

बाईजी को भी भोजन का निमन्त्रण था, यों तो आज उसका यहाँ पर मुजरा ही था। भोजन के बाद नाच-गान की ठहरी।

कमलेश के प्रश्न से पूरवी ज़रा-सा हँसी—

'उन्हीं साधूजी को पूछ रही थी।'

'परन्तु मेरे तो एक भी साधु मित्र नहीं हैं बाईजी।'

'हैं न। अच्छा-सा नाम है उनका। भूल गई। वही जो ग्रेट वार से लौटे हैं।'

'कौन कमल ?'—पूछा नीलाम्बर ने।

कमलेश हँस पड़ा—पृथीश को पूछ रही हैं।

'हम सब सेवक देखते ही रह गये, और अन्त में मन में बस गया वह रस-हीन, गँवार पृथीश ?'—तरल स्वर से नीलाम्बर ने कहा।

'यदि ऐसा हो भी, तो हानि क्या है ?'—पूरवी हलकी खुशी से कह उठी।

'मैं कब कहता हूँ कि हानि है ? घबराओ नहीं, वह आता होगा। उसका पेट कहीं किसी पार्टी को मिस कर सकता है ?'—नीलाम्बर ने कहा।

'क्या वह पेटू हैं ?'—पूरवी के प्रश्न में शायद आग्रह रहा हो। नीलाम्बर परिहास करने से न चूका—कह न रहा था कि पूरवी तुम रीझ गईं।

'शायद ऐसा हो। किन्तु गान तो मैं सब को एक ही-सा सुनाती हूँ महाशय। और जब तक जी चाहेगा, सुनाती रहूँगी। यदि मेरे रीझने का कोई मूल्य रहता हो तो मैं उसे गीत से चुकाती जाती हूँ। इसके सिवा मेरे पास है ही क्या ?'—शान्त स्वर से पूरवी बोली।

कमलेश स्तब्ध हो गया। इस तरह से परिष्कार देना और मुँह पर ! न कहीं पर्दा, न रुकावट, बिलकुल साफ-साफ कह देना उसे अच्छा लगा। पूरवी से उसका परिचय अधिक दिन का नहीं था। नहीं, वरन् उसने पूरवी को पार्टी आदि में पाँच-छः बार देखा था बस। बस वह शराब पीता जरूर था; किन्तु कभी वेश्यालय में गया नहीं। और न इसकी भावना उसके मन में थी।

पृथीश पहुँच गया। सादर सम्वर्द्धना कर नीलाम्बर बोला—मैं कह न रहा था पूरवी, कि मेरा पेटू मित्र पहुँचता ही होगा।

'तो मेरी चर्चा हो चुकी है ? सौभाग्य, सौभाग्य।'—प्रसन्न हँसी से पृथीश का मुँह उज्ज्वल हो उठा।

'बाईजी तुम्हारे लिए उद्विग्न हो रही थीं पृथीश।'—नीलाम्बर बोला।

'मेरे लिए ? बड़ा भाग्य !'

'सो तो है ही पृथीश।'—मित्रगण हँस रहे थे।

पृथीश ने बात समझी न समझी, वह कहने लगा—पेटू मैं हूँ बाईजी। नीलाम्बर से तुमने सुन लिया होगा। विशेषकर महायुद्ध में बासी चीजें और मांस खाते-खाते ऊब गया। इङ्गलिश डिशों से मैं शाग-भाजी अधिक रुचि से खाता हूँ। विश्वास न हो तो आप अपने घर मुझे भोजन कराकर देख लें। परन्तु पीछे कहना नहीं कि आज मुझे भूखी रहना पड़ा। दस आदमी का भोजन पृथीश अकेला खा गया।

'आप मेरे घर भोजन करेंगे पृथीश बाबू ?'—पूरवी ने पूछा।

'क्यों नहीं ? यदि आप कहें तो कल पहुँच जाऊँ।'

'मेरे हाथ का बनाया भोजन करेंगे आप ?—ज़रा इतस्ततः कर पूरवी ने पूछा।

'क्यों ?'

'इसलिए पूछ रही हूँ, किसी के धर्म को मैं बिगाड़ना नहीं चाहती।'

पृथीश जोर से हँसा—घबराइये नहीं। छूआ छूत से मेरे उस महान् धर्म की ज़रा भी हानि न होगी। समझी न पूरवी !

'ऐसा। तो कल मेरा निमन्त्रण स्वीकार कर रहे हैं न ?'

'धन्यवाद ! किन्तु ज़रा सोच-विचारकर मुझे बुलाना बाईजी।'

बाईजी के नेत्रों में स्नेह की छाया पड़ गई। उसने पृथीश की ओर देखा, फिर बोली—किन्तु इस तरह से डरा-धमकाकर आप मेरे घर अपना आना नहीं रोक सकेंगे पृथीश बाबू, सो मैं पहले से कह देती हूँ। और यह भी कहती हूँ कि कल आपको आना ही पड़ेगा। भूलने से न चलेगा।

'कहो बाईजी, कल गीत के बदले कौन-सी चीज़ पृथीश से लेने का विचार है ?'—व्यंग से कहा नीलाम्बर ने।

'बहुत बड़ी चीज़ नीलाम्बर बाबू !'—परिहास से पूरवी मचल-सी पड़ी।

'वह ऐसी कौन-सी वस्तु है पूरवी, क्या हम उसे सुन नहीं सकते ?'

'क्यों नहीं। कल मुझे मिलेगा थोड़ा-सा सन्तोष—वही सन्तोष, जो कि एक के तृप्ति-पूर्ण भोजन से नारी को मिला करता है।'

'और बदले में तुम क्या दोगी पूरवी ?'—नीलाम्बर ने पूछा।

'उनके पास तो कुछ है ही नहीं, फिर वह देंगी क्या ?'—कमलेश ने कहा।

एक कौतुक से पृथीश सब का मुँह निहारने लगा।

पूरवी क्लिष्ट हँसी।

'सच कहना पूरवी, क्या गान के सिवा तुम्हारे पास और कुछ नहीं है ?'—नीलाम्बर ने पूछा।

पूरवी खिलखिला पड़ी—और उसी को जानने के लिए आप लोग अधीर हो रहे हैं ? और इन्हीं सब के लिए उस दिन पृथीश बाबू मुझे ख्याल न गाने का अनुरोध कर रहे थे ?'

इस गर्विता वेश्या के प्रति सभा विस्मय से देखने लगी। कमलेश के मुँह की हँसी पर घड़ों पानी गिर पड़ा और पृथीश ने मुँह फेर लिया।

शराब भरे ग्लास लिये ब्वाय वहाँ पहुँच गया। पृथीश को छोड़कर बाक़ी सब सज्जनों ने एक-एक ग्लास उठा लिया।

एक महाशय ने पूरवी की ओर ग्लास बढ़ाया।

नीलाम्बर ने टोंका—वह नहीं पीतीं। लाओ, मुझे दे दो।

'यह कैसे हो सकता है ? थोड़ा पी लो बाईजी।'—व्यक्ति बार-बार अनुरोध करने लगा।

'नहीं महाशय, क्षमा करें। शराब मैं नहीं पीती।'

'कभी नहीं पीतीं ?'—पृथीश ने पूछा।

कमलेश ने फिर भी दो-दस बार पूरवी को देख लिया था, परन्तु पृथीश उसे द्वितीय बार ही देख रहा था।

'नहीं पी, प्रथीश बाबू!'

प्रथीश चुप हो रहा।

व्यक्ति ने कहा—ऐसा! परन्तु क्यों? क्या शराब से घृणा है?

'घृणा? नहीं तो।'—वह बोली।

'फिर?'

'अच्छा नहीं लगता, नहीं पीती। हाँ, गाना सुनाऊँ?'

प्रथीश चंचल होने लगा—पहले भोजन कर लो।

'और उसके बाद तुम भागो। बात यही न है पृथ्वी?'—नीलाम्बर ने कहा।

'हाँ भाई। ठुमरी सुनने से घर में सोना दसगुना अच्छा है। मुझे गाना-वाना अच्छा नहीं लगता।'

'लेकिन प्रथीश बाबू, बाईजी का गान एक ऐसी चीज़ है कि मुर्दे तक को जिन्दा कर देती है। आप भी अजीब हैं, ऐसी चीज़ से आपको नफ़रत है।'—एक आगरा-निवासी सज्जन कह उठे।

प्रथीश ने असंकोच उत्तर दिया—परन्तु महाशय, अपना-अपना टेस्ट तो है। वेश्या के नखरे मुझे अच्छे नहीं लगते। गान जैसी सुन्दर वस्तु को भी वह नष्ट कर बैठी। उसमें भी नखरे-वखरे मिलाकर कुत्सित कर दिया। वेश्या-कंठ का गान तो मुझे तिक्त औषधि-सा लगता है। आप सुनें और शौक से सुनें।

पूरवी ने उस सज्जन के प्रति संयत नेत्र उठाये—किसी के देवी कहने से वेश्या बदलकर देवी न बन जायगी महाशय। वह वेश्या है और वेश्या ही रहेगी। मुफ्त में आप लोग उसे देवी या वेश्या कहने का कष्ट न उठायें। पृथ्वी ने जिसका वेश्या होना स्वीकार कर लिया है, हम आप इने-गिने प्राणी यदि उसके वेश्यापन को स्वीकार या अस्वीकार करना चाहें तो इसमें उसे लाभ-हानि कुछ भी नहीं है।

सभा इस उत्तर से मुसकराने लगी। प्रथीश स्वयं क्षुब्ध हुआ। इस स्त्री पर वह आघात करना नहीं चाहता था, आघात करने के उद्देश्य से उसने उसे वैसा कहा नहीं था। केवल बात के पृष्ठ पर बात निकल गई थी। पूरवी को

कोमल कर कुछ कहने के लिए उसका जी चाहने लगा ; किन्तु एक जाने कैसे संकोच ने उसे घेर लिया।

भोजन के बाद पृथीश ने विदा माँगी। पूरवी की ओर उसने दृष्टि उठाई।

'कल आप आ रहे हैं न ?'—स्मित हास्य से पूरवी ने कहा।

'ज़रूर बाईजी, मैं कहना चाहता हूँ...'

'कहिये। सुनने के लिए मैं तैयार हूँ।'

आगरेवाले सज्जन का विरक्त स्वर ध्वनित हो उठा—क्यों मुफ़्त में बाईजी बकवाद करती हो। जो तुम्हारी कद्र करे वहाँ आकर बैठो। दो-चार अच्छी चीज़ें सुनाओ। यहाँ चली आओ, वक्त बर्बाद हो रहा है।

'अच्छा नमस्कार !'—पृथीश ने नमस्कार किया और चल दिया।

पूरवी आकर अपने स्थान पर बैठी। कमलेश ने भी विदा ली।

[ ७ )

उषा के प्रथम प्रकाश में कमलेश के उद्यान की लताएँ जाग गई थीं; वृक्षों में जागरण का चिह्न था। और वृक्षों की पुष्परानियाँ जमुहाई लेतीं प्रभात से कुशल-वार्ता पूछने में लगी थीं। भौंरों की टोली प्रभाती ग़ान में मस्त थी।

कमलेश फूल-पत्तियों को देखता रहा था। बारह बजे रात्रि में वह मित्र के बगीचे से लौटा था। शराब का नशा नहीं था, किन्तु आलस्य ने उसे घेर रखा था। प्रभात के मन्द पवन में टहलकर वह कुछ ताजा होना चाह रहा था, किन्तु उसकी खुली आँखों के सामने वह क़हाँ का और कैसा सौन्दर्य का सागर उमड़ पड़ा। विश्व के कोने-कोने का रूप, रस, गन्ध बूँद-बूँदकर उस लड़की के शरीर में किसने भर दिया ?

अयाचित रूप से जो आवरण-हीन अम्लान सौन्दर्य उसके खुले नेत्रों के सामने आ गया है, उसे वह आज अस्वीकार भी कैसे करे ? उस ओर से दृष्टि फेरना कमलेश भूल गया। ऐसी सुन्दरता की भावना उसकी दुनिया में नहीं थी। विस्मय-विमूढ़, पुलकित, रोमाञ्चित कमलेश स्थिर खड़ा रह गया। और सामने की खुली खिड़की में भास्कर-निर्मित प्रस्तर-मूर्ति-सी, अर्द्ध नग्न सुन्दरी, रूपसी तरुणी के नेत्र आकाश के प्रति वैसे ही निवद्ध रह गये।

थी वह सविता। धीरे-धीरे सविता के नेत्र व्यथा के निविड़ आवरण में ढँक-से गये। उसकी तारा-मा जाने कहाँ, कौन-से अनजान देश में छिप रही थी।

निराश व्यथा से सविता ने धीरे से पुकारा—मा!

कमलेश के पैर अपने-आप खिड़की के नीचे तक आये, और सविता को पहचानते ही वह कह उठा—तुम, तुम सविता? गुलाब की पँखुड़ी-सी अपरूप तुम; तुम हो सविता।'—अपने अनजान में ही पूछा कमलेश ने।

सविता की चेतना लौटी। लज्जा, संकोच से वह सिहरने लगी। उसे लगने लगा—धरती के रग-रग में अभी-अभी यदि वह समा जा सकती, यदि धूलि के कण में मिल जा सकती तो कैसा अच्छा होता।

लज्जा, लज्जा, अपरिसीम लज्जा! और उसी लज्जा के आवरण में ढँकी एक जड़-सी सविता धरती में औंधी गिरकर चिपकी रह गई धरती से। आज यह कैसी उच्छृङ्खल निर्लज्जता वह कर बैठी उस पुरुष के सामने और इसके बाद वह मुँह दिखलायेगी कैसे?

कमलेश भोजन पर बैठा था। माता सामने बैठी थी! जैसी कि वह नित्य बैठा करती थीं। थाली में सुगन्धित बारीक चावल का भात, शाग-भाजी, मक्खन का घी, और छोटे-बड़े कटोरों में नानाविध तरकारी थाली के चहुँओर सजाकर रखी गई थी। खीर, दही से लेकर पालक की भाजी आदि किसी भी चीज़ की कमी न थी।

'परवल कहाँ मिले मा।'—कमलेश ने पूछा।

'सुभद्रा अपने नैहर से आई है सो वहाँ से लेती आई है। थोड़े मुझे भी भेज दिये। अच्छे बने हैं परवल?'

'बहुत अच्छे, यह तरकारी महाराज की बनाई न होगी, तुमने बनाई है न? देखो, मैं कैसा जान गया।'

परम सन्तोष से मा हँसने लगीं— तू न जानेगा, तो जानेगा कौन? मा के आँचल में ढँका कमला मेरा, मा की सब बातों से जानकार न होगा, तो कौन जान सकेगा? गोभी तो छुई तक नहीं, कैसा भूलता है बेटा।

'भूल गया मा। यदि तुम न कहती तो छूता तक नहीं।'

'सो जानती हूँ। इसी से तो घण्टे भर भी कहीं जाकर निश्चिन्त नहीं बैठ सकती। तू जनम भर बच्चा बना रहेगा कमला। और इधर तो डबल बेड़ी पैरों में पड़ गई।'

'कैसी बेड़ी मा ?'

'चुप रह। जैसा आप है, वैसी ही एक लड़की भी जाने कहाँ से उठा लाया। यदि बाल में कंघी करूँ तो उसके बाल सँभलें, वरना बुलबुल जैसा घोंसला लिये फिरती रहेगी। साफ कपड़े जब तक पहनने को न कहूँगी, तब तक मैली-कुचैली मंगन जैसी बनी रहेगी। कहाँ तक कहूँ। लड़की नहाने-खाने तक को भूल जाती है। गोद की बच्ची-जैसी है। कहती है—कहानी कह मा।'

'कौन मा ?'—अत्यन्त कौतुहल से कमलेश ने पूछा।

'वही सुरसती और कौन ! मुझे तो इस लड़की ने हैरान कर डाला। देखो न आज सबेरे से नहाना-धोना कुछ न किया। मैं जरा पूजा में लगी थी। बस लड़की को मजा मिल गया। अरे रमकिया, बुला तो ला जरा बाई को।'

लज्जा-संकोच से आच्छन्न-सी सविता आई और अन्त में उसे कमलेश के सामने भी आकर खड़ा होना पड़ा।

परम कौतुक से कमलेश ने उसे देखा। प्रातः की भूली-सी घटना उसे याद आ गई। और तभी-तभी कमलेश को एक जाने कैसी अस्वच्छन्दता का अनुभव होने लगा, जिसने उसे सहज वर्ताव करने से रोका। दबी आँखों से वह उसे देखने लगा। प्रथम बार उसने नारी का सौन्दर्य देखा था। उसे लगा ऐसा रूप उसने आज तक कभी नहीं देखा।

उसे आश्चर्य होने लगा कि ओस की जो छोटी बूँद, जीवन की जो हरी खुशी, महुए का जो छोटा फूल उसके गृह-प्राङ्गण में पड़ा हुआ था अब तक उस ओर से वह अन्धा कैसे बना रहा ?

वास्तव का वह पुजारी है सो ठीक है। रहेगा, और वास्तव को वह एक दिन पायेगा भी ; किन्तु यदि अनायास उसकी दृष्टि के सामने कोई अपरूप वस्तु आ जाय, तो उसे न देखने की अवहेलना करने की भी ऐसी कौन-सी

Sri Pratap Singh

जरूरत है ? पृथ्वी पूर्ण रूप की लीला-चञ्चल गति है। और वह पृथ्वी का प्राणी उस सौन्दर्य से अतृप्त क्यों रहे ? कमलेश ने आँखें खोलकर उस ओर देखा।

'नहा लिया ?'—गृहिणी ने सविता से पूछा।

सविता ने सर हिलाकर कह दिया—नहीं।

'नहीं ? अच्छा किया। तेरे लिए मैं हैरान हो गई सुरसती। सबेरे चाय-वाय पी ली थी या नहीं ? नहीं पी ? और ननकू, जनकिया, हलका ये सब मर गये थे क्या ? घर की लड़की भूखी रहे और घर भर के लोग खीर-पूरी खायें, वाह ! तेरे लिए मैं अपना सर पीट लूँ ? टेबल पर बैठकर चाय पी क्यों न ली ? क्या कहीं पराये के घर आई है ? चल यहाँ आ।'

सविता सत्यभामा के निकट बैठ गई। धीरे से बोली—तुम जाने कहाँ चली गई थीं अम्मा। चाय पीने की खबर न रही।

गृहिणी का मुँह आनन्द की हँसी से दीप्त हो उठा—तुझे गोद में लिये मैं दिन भर बैठी रहूँ क्यों ? अच्छी वेड़ी डाल दी है तूने कमला। पराये की लड़की के लिए कौन ऐसी झंझट सहे !

कमलेश मुँह फेरकर हँसा।

सत्यभामा सविता की चोटी खोलने में लगी। दासी सुगन्धित तेल रखकर हट गई।

सविता के सर में तेल मलकर गृहिणी ने उसे स्नान करने के लिए भेज दिया।

इस दरिद्र, पराये की लड़की को गृहिणी कब जी खोलकर चाह बैठी थीं ; कदाचित् इसकी खबर अब तक उन्हें न लगी हो ; परन्तु इस बात से आज कमलेश, भलीभाँति जानकार हो गया था और इस बात को जानने के साथ ही साथ वह कम आह्लादित भी न हो सका।

सविता—कमलेश के मन में आया—सविता है रूपरानी, अपनी-सी। यदि उसके और मेरे बीच मा का स्नेह बँट गया तो इसके लिए मुझे जरा भी खेद नहीं है, वरन् खुशी ही है।

[ ८ ]

शीत की दुपहरी। गृहिणी उस दिन कमलेश का कमरा साफ करने में लगी थीं। दासी-चाकर व्यस्त थे। अनाड़ी हाथों से सविता भी उन्हें सहायता दे रही थी।

सप्ताह में एक बार वह लड़के का कमरा अपने हाथों से साफ़ किया करती थीं। काम करती जातीं और दासियों को बका करतीं।

'तू रोज जरा इस कमरे को सजा-बजा दे सकती है सुरसती?' सत्यभामा ने पूछा।

वहाँ आकर सविता कुछ थोड़ा-सा काम-काज करना सीख गई थी। बोली—तुम जाओ न, और इन सबको भी जाने को कह दो। घंटे भर में आकर देखना काम ठीक हुआ या नहीं?

'अकेली इतना कर लेगी?'

'काम है ही क्या मा? रोज झाड़ा-पोंछा जाता है। बस टेबुल साफ़ करना और अलमारी की किताबों को सुधार कर रखना। रहा कमल शेल्फ, वह भी हो जायगा।'

'इतना काम! बीमार पड़ जायगी बिटिया।'

सविता खिलखिला पड़ी—जाओ अम्मा, आराम करो।

इस प्रकार जबरन उसने सब को हटाया। तब धीरे-धीरे किताबों को साफ करने लगी।

सीढ़ी पर ज़ोर-ज़ोर से जूतों की आवाज़ आई। परिचित थी सविता इस झटिका से, उद्दाम शब्द से। धीरे चलना कमलेश जानता न था। जैसा लम्बा-चौड़ा दैत्य-सा उसका शरीर था, वैसी ही आँधी-सी चाल। चेहरा उसका बहुत सुन्दर था। बुद्धि-उज्ज्वल-नेत्र, उन्नत नासिका के नीचे घनी मूछें, प्रशस्त ललाट, गोरा रंग। उसके मित्रों की मूँछ साफ थी। पृथ्वीश भी मूँछ नहीं रखता था, परन्तु कमल विलायत हो आया था, फिर भी उसकी मूँछ ज्यों-की-त्यों रह गई। घर-बाहर उसकी मूँछ की हँसी उड़ा करती। केवल एक व्यक्ति था पृथ्वीश, जो मूँछ की प्रशंसा करता। कहता—यही तो वीरत्व का चिह्न है। स्त्रियों-से

सुकुमार चेहरे में धरा क्या है। यदि कमलेश-सी मेरी मूँछें होतीं, तो मैं अपने को धन्य समझता। ईश्वर ने कर दिया उलटा, मुझे मूँछ ही न दी। दस-बीस बाल कभी निकल आये तो उससे क्या। झख मारकर मुझे घोंट डालना पड़ता है।

हँसकर कमलेश कहता—ठीक है। मन तुम्हारा स्त्रियोचित है, तो भगवान ने भी मूँछ-दाढ़ी हर ली। मुझे देखो। इतना कहकर कमलेश अकड़कर खड़ा हो जाता और मूँछ मरोड़ने लगता।

तब पृथ्वीश गम्भीर मुँह किये दूसरी ओर निहारने लग जाता और बस।

शब्द निकटतर हुआ और होता ही गया। सविता उस ओर आँखें न उठा सकी। कमलेश के सान्निध्य से उस दिन की लज्जा मूर्त होकर उसे निगलने-सी लग गई। उस दिन के बाद यदि अनिच्छा से कभी कमलेश के सामने वह पड़ भी जाती, तो जल्दी से भाग निकलती। आज ऐसे सहसा उसका सामना करना पड़ेगा सो कौन जानता था।

एक जड़ की भाँति सविता खड़ी-की-खड़ी ही रह जाती, यदि कमलेश कह न उठता—अरे बाप रे, यह तो किताबों का ढेर लगाकर बैठी हो! पढ़ने के लिए चुन रही थीं? कौन-सी पसन्द आई? कमलेश के मुँह में न लज्जा थी, न संकोच। उस दिन की बात कदाचित् वह भूल गया हो।

किताबों के ढेर के सामने खड़ी सविता अपरिसीम लज्जा से पसीने में डूबने लगी। उस बात को वह भूल नहीं सक रही थी कि इस व्यक्ति के सामने वह उस दिन निर्लज्जता की शेष सीमा तक को लाँघ गई थी।

'कौन-सी पसन्द आई सविता?'—कमलेश वैसे ही पूछने लगा।

'आपका कमरा साफ़ कर रही थी।'—अत्यन्त सभ्य रीति से सविता 'आप' शब्द उच्चारण कर गई।

कमलेश को उसने पहले-पहल 'आप' कहा।

कमलेश ने शायद उस ओर ध्यान दिया न दिया। परन्तु 'आप' कहनेवाली सविता के कानों में वह शब्द श्रुतिकटु बन बैठा। और उस कटुता के बोझ के नीचे वह दब-सी गई।

'साफ़ कर रही थीं ? तो मा ने अपना काम तुम्हें सौंप दिया है। बैठ जाओ। ज़मीन पर क्यों, इस कुरसी पर बैठो न।'

कमलेश ज़रा-सी खुशी मुँह में लपेटे कहने लगा—मा की कुछ आदत है, अपने हाथों मेरा काम किये बिना उन्हें सन्तोष नहीं मिलता।

सविता चुप रही।

'जब जी चाहे किताब पढ़ा करो। जब यहाँ की किताबें चुक जायँ, तब नीचे की लाइब्रेरी से निकाल लिया करो। अच्छा लो, वहाँ की चाभी तुम्हें दिये देता हूँ। दो हैं, एक मेरे पास रहेगी।'

'ये सब अंग्रेज़ी की पुस्तकें हैं।'—सविता ने सहमी हुई आँखें उठाईं।

'तो क्या हुआ ?'

'मैं अँग्रेज़ी नहीं पढ़ सकती !'

कमलेश चिल्ला पड़ा—अँग्रेज़ी नहीं पढ़ सकतीं ? दिन भर क्या किया करती हो ? वक्त तुम्हारा कैसे कटता है सविता ?

अत्यन्त विस्मय से सविता ने उत्तर दिया—वक्त ? किन्तु अच्छी तरह तो कट जाता है। वक्त काटने के लिए मुझे किताबों की ज़रूरत कहाँ पड़ती है ? तुम्हें पड़ती है क्या ?

इस सहज रीति से बात-चीत कर सकने से सविता का मन कुछ हलका पड़ गया। वह सहज कौतुक से कमलेश का मुँह निहारने लगी।

'बिना किताब के कोई जी भी सकता है ?'—कमलेश अपनी धुन में कह चला—किताब के सिवा दुनिया में है ही क्या ?

'ऐं ! तुम क्या कह रहे हो ?'

'ठीक कहता हूँ। किताब है और बस उसके उपरान्त सब नकली है।'

'और मैं जो जी रही हूँ।'—सविता के मुँह पर दबी हँसी थी।

'तुम ?'—कमलेश बड़े विचार में पड़ गया।

'अच्छा अभी-अभी जो तुम कह गये सब नकली है तो इस नकली के बीच में किताब ही एक असली कैसी हो गई ?'—एक नटखट बालिका-सी सविता पूछ बैठी।

'बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने, विद्वानों ने, गुणियों ने सत्य की खोज में जिन्दगी बिता दी, और जिन्दगी के अन्त में छान-बीनकर जो कुछ सत्य उन्होंने पाया, उसी को पुस्तकों में जीवित कर गये हैं। समझीं न सविता? इन्हीं पुस्तकों के सहारे हम सत्य को देख सकते हैं।'

'ऐसा!'—विस्फारित नेत्र से उसने कहा।

'हाँ, यही बात है। तुम अँग्रेज़ी बिलकुल नहीं जानतीं? ज़रा भी नहीं?'

'जो कुछ जानती हूँ वह न जानने के समान है। मुझे अँग्रेज़ी पढ़ाओगे?'

'पढ़ोगी तुम?'—विपुल आग्रह से कमलेश कहने लगा—ज़रूर पढ़ाऊँगा, अँग्रेज़ी में विश्व-साहित्य है। उसमें जितनी चीज़ें मिलेंगी, वे सब सीखने लायक हैं। आज से तुम शुरू कर दो। किताबों की ज़रूरत तो पड़ेगी ही। कल मँगवा लूँगा। नहीं, मेरे पास नहीं है। अक्षर पहचानती हो न?'

'पहचानती थी, किन्तु भूल गई।'

'कुर्सी और हटाओ। अभी पहचान लोगी। वह कागज़ लेती आना।'

कमलेश गम्भीर मनोयोग से उसे पढ़ाने लगा और अखंड मनोयोग से सविता अक्षर पहचानने की चेष्टा करने लगी।

'अरी सुरसती, कमरा आज साफ़ होगा या साँझ तक बैठी साफ़ करती रहेगी? जलपान का वक्त हो गया, लड़की का पता नहीं। चल, उठ'—कहतीं सत्यभामा कमरे में आकर स्तब्ध हो उठीं।

सत्यभामा ने कहा—यह क्या हो रहा है? वाह री लड़की, कमरा ज्यों का त्यों पड़ा हुआ है, आप आराम से कुर्सी पर बैठी हुई है!

'सविता को पढ़ा रहा हूँ मा।'

गृहिणी हँस पड़ीं—अच्छा-अच्छा, पढ़ी! जैसा पागल तू, वैसी ही पगली लड़की।

'मैं पागल हूँ मा!'

'और नहीं तो क्या। क्या पढ़ा रहा है?'

'अँग्रेज़ी।'

'मेरी सुरसती यों ही भली है। अँग्रेज़ी पढ़ाकर क्या करेगा?'

'थोड़ा-बहुत सीख लूँ न अम्मा !'—विनय से कहा सविता ने।

'पढ़ना बाबा, मैं रोकती कब हूँ।'—खिन्न स्वर से बोली सत्यभामा।

'देखना अम्मा, छः महीने में तुम्हारी सुरसती कैसा सीख लेती है।'

'अच्छा-अच्छा। अभी तो चलो भीतर। जलपान ठंडा हो रहा है। तब तक मैं कमरा साफ़ किये देती हूँ।'

'मैं कर लूँगी मा।'

'नहीं तू रहने दे।'

'करूँगी मा।'

'फिर जिद ? जाती है या खड़ी बहस किया करेगी ? बाप रे, इस लड़की ने मेरे नाकों दम कर रखा है।'

हँसते हुए वे दोनों चल दिये।

गृहिणी बड़बड़ाती हुई कमरे की सफ़ाई में लग गईं। चिल्लाकर कहने से न भूलीं—समोसे सब खा लेना, मेवे, फल छोड़ना नहीं, यदि न खाये जायँ तो रसगुल्ले छोड़ देना, मैं आकर देखूँगी, समझी सतिया ?

सविता ने कहा—अच्छा।

[ ९ ]

तो वह थी जूही की एक पँखुड़ी जैसी निर्मल, निष्पाप। ओस की एक बूँद जैसी शुभ्र, शीतल। अंगूर के रस जैसी मीठी, मधुर। जुगनू की दीवट जैसी निरहंकार, निरभिमानिनी। निर्झर की गति जैसी सरल और बुलबुल की प्रभाती जैसी तन्द्रालस। भैरवी की मूर्च्छना जैसी स्वप्नातुर! साँझ की पुरवी जैसी कुम्हलाई। जय-जयवन्ती जैसी लचकती। और···और राधिका के ध्यान जैसी अपनी सत्ता बिसरी—लुटी-सी।

तो ऐसी उस लड़की सविता के हृदय में यदि उस दिन प्रेम का पहला चुम्बन अँक गया हो, तो इसमें विस्मय की बात कौन-सी है ? उस दिन उसी एक दिन की तो बात है, कमरे के अन्दर जाने से वह रुकी। कमलेश की माता पुत्र से कह रही थीं—कैसी सुन्दर लड़की है सुरसती, ऐसी ही बहू मुझे चाहिए।

इतना सुन पाई थी कि सविता भागी-भागी चली गई पुष्प-उद्यान में। उसके देह-मन में एक आकुल सिहरन जाग पड़ी थी।

किन्तु उसने भूल की—गहरी भूल। यदि मिनट भर वहाँ रुक जाती, तो पूरी बातें सुन पाती। और कदाचित् तब वह इस भयानक भूल से बचती भी।

सत्यभामा और कमलेश जान भी न सके कि उनकी बातों की चोरी बाहर से हो गई और चोर ने लब्ध वस्तु की गठरी में अनायास ही अटूट ग्रन्थि डाल दी।

'किन्तु यह विवाह तो होने का नहीं। जिसके तीन कुल में बत्ती जलाने को कोई नहीं, ऐसी लड़की मेरी बहू नहीं बन सकती है।'—वचन शेष कर माता ने दीर्घ श्वास के साथ पुत्र की ओर देखा।

कमलेश चुप रहा।

सत्यभामा कहने लगीं--जज की लड़की भी बड़ी सुन्दर है। रमेश कह रहा था--सुरसती से भी अच्छी है। लिखी-पढ़ी खूब है। मेरा जी इस लिखने-पढ़ने से ही डरता है। ऐसी लिखी-पढ़ी लड़की लेकर मैं करूँगी क्या। किन्तु रमेश कह रहा था--'लड़की धीर, शान्त, कर्मशील है।' भले घर की ठहरी ऐसा तो होना ही चाहिए। मैंने हाँ कह दिया है। तू क्या कहता है?

परन्तु जिसके उद्देश्य में इतना सब कहा गया, उसने शायद ही पूरी बातें सुनी हों।

कमलेश के कानों में मा के वही शब्द मड़रा रहे थे--कैसी सुन्दर है सुरसती, ऐसी ही बहू मुझे चाहिए।--तो वह लड़की, जिसे वह गुड़िया समझे हुए था, और जिसके सरल प्रश्नों से सदा वह एक कौतुक अनुभव किया करता था, जिसे डरा धमकाकर, लाड़ प्यार से पढ़ाया करता था, और जो एक निर्भर छोटी चिड़िया सी उसका मुँह निहारा करती थी, उसी से उसके विवाह की सम्भावना।--कमलेश को हँसी आई--कैसे मजे की बात है। वह छोटी चिड़िया बन जायगी उसकी दुलहिन, घूँघट काढ़े घर में घूमती फिरेगी।

एक सरल आमोद से, सहज कौतुक से कमलेश का जी भर उठा। जी चाहने लगा सविता को देखने के लिए। उसके अवगुण्ठिता वधू होने की तो

वह कभी कल्पना भी नहीं कर सका था। जाने घूँघट काढ़े वह कैसी लगेगी!

'हाँ...हूँ' करता कमलेश माता के निकट से उठकर बाहर गया और सारे घर में सविता को ढूँढ़ता फिरने लगा।

साँझ वेला की नशीली चाल में उद्यान की जूही, चमेली आदि पुष्पराशि मस्तानी झूम रही थीं। हिमालय की विद्याधरियाँ वृक्ष-लता में फूल चुन रही थीं। कोई माला गूँथने में व्यस्त थी। आकाश से रंभा, मेनका आदि अप्सराओं की टोली भी मेंहदी की झाड़ी में उतर चुकी थी।

कमलेश के घर से लगा हुआ वृहत् पुष्प-उद्यान, कृत्रिम पर्वत, झरना। एक ओर छोटा तालाब, संगमर्मर की सीढ़ियाँ जल तक उतर चुकी थीं, चहुँ ओर ऊँचे वृक्ष और उद्यान को घेरकर घनी, ऊँची मेहँदी की क्यारी। उद्यान में जाने कितनी ही विचित्र वर्ण की लता, पुष्प, पेड़, पौधे, झाड़ी-झुरमुट। बस था इतना ही।

कमलेश के इस उद्यान में नित सन्ध्या-वेला में साँझ की पूरबी जैसी अनुपम अप्सराओं, विद्याधरियों का मेला लग जाता। मेहँदी की झाड़ी में से अनगिनती लाल परियाँ निकल आतीं। कोई मेहँदी पीसती, कोई रचाती, वृक्ष-शाखाओं पर बैठी कितनी ही झूला झूलतीं। कोई किसी को विरह-वार्ता सुनाती, जिस कथा को सुनकर वृक्ष-लता के आँसू झरते। करोड़ों फूल आँसू बनकर झर पड़ते। पवन सिसकियाँ लेता, सिरसिराने लगता। कोई रूपरानी सावन गाती, उस गान को कोकिला अपने कंठ में भर लेती और नारियल वृक्ष पर बैठी वह कुहक उठती—कू...ऊ। अप्सराएँ उसे खोजती फिरतीं। चिढ़ाकर कहतीं—कू...ऊ।

खुशी से कितनी ही खिलखिला पड़तीं, जिस हँसी को सुनकर पुष्प-हृदय में बैठी तितली हँसी से काँपने लगती। भौंरों की टोली में वह हँसी बँट जाती। बुलबुल अपने स्वर में उस खुशी को भर लेती। जुगनू के दीवट उस हँसी से जल उठते। कोई किसी के पीछे दौड़ पड़ती। उस गति को मधुमक्खी अपनी चाल में भर लेती। नित उस उद्यान में ऐसी भीड़ लग जाती।

उस मेला की खबर कदाचित् पृथ्वी से गोपन रहती, कदाचित न रहती

परन्तु सुन्दरियों के रङ्ग-रञ्जित पद-चिह्न पुष्प-लता में अंकित रह जाते। और उनकी आँखों की खुशी, मुँह की हँसी उद्यान की वायु में मड़राया करती। दीर्घश्वास वृक्ष-शाखा में भर-से जाते और रूप की आभा चाँद की छाया में समा-सी जाती।

ऐसी ही एक आनन्द-वेला में नवोढ़ा का पहला चुम्बन लिये उद्यान के बीच में आकर खड़ी हो गई सविता।

उस अपरूप को देखकर रूपसी-कन्याएँ विस्मित हो गई। रिनझिन-रिनझिन-झिनिक-झिनिक-झिम नूपुर-सिञ्जन से उद्यान का वायु झंकृत होने लगा। सुर-सुन्दरियाँ गिरती-पड़ती दौड़ी आईं। सविता को घेरकर खड़ी हो गईं। पूछने लगीं—रूपकन्या, रूपकन्या, भरी साँझ में किसे ढूँढ़ती फिर रही हो? किस देश का निवासी और कैसा है तुम्हारा पिया? इन्द्र-धनुष-सा अपरूप या समुन्दर-सा गम्भीर? कहो, कहो रूपकन्या, कैसा है तुम्हारा पिया?

उन सब की वह वाणी पवन ने अपनी नसों में भर ली।

पुलक-विह्वल सविता के कानों में कुछ न पहुँच सका। अपने चहुँओर केवल 'फुस-फुस,' 'सिर-सिर,' 'झिर-झिर' सुनने लगी। आँखों से वह उन कन्याओं को देख न पाई। पवन में थी एक मर्मर-ध्वनि नूपुर-सिञ्जन-सी। सन्ध्या के आँचल में वही साँझ की पूरवी। पुष्पों में एक दबी हँसी और सविता की नसों में एक अनोखी सिहरन।

खजूर वृक्ष पर बैठा पखेरू चिल्ला उठा—पिउ कहाँ, पिउ कहाँ।

उस पुकार से सविता के हृदय की प्रेम-चाह की पहली ग्रन्थि खुल गई। रोमाञ्चित सविता ने आँख उठाई। सामने कमलेश खड़ा था। सविता ने देखा अपने पिया को और कमलेश ने देखा वधू सविता को।

उस वधू को देखकर कमलेश को हँसी आ गई—नहीं, नहीं, इस तरुणी का वधू का घूँघट बिलकुल नहीं सोहता।

नवोढ़ा की लज्जा लिये सविता खड़ी काँपने लगी, यह कौतुक देखकर स्वर्ग-कन्याएँ खिलखिला पड़ीं। उस हँसी से भारी पवन हलका हो गया। सविता भाग निकली। विस्मित कमलेश उस ओर निहारता रह गया।

[ १० ]

दिन उसके कटने लगे एक स्वप्न-सी खुशी के भीतर। सविता अब कुछ काम-काज सीख गई थी। कमलेश का सारा काम वह करती। सुधारकर सब न बनता, किन्तु जितना बनता उतना करती, बाकी गृहिणी करतीं।

गृहिणी सबसे कहतीं—बाप रे, इतना कर लेना भी क्या कम है? पूरे कमरे को वह जरा सी लड़की कहीं साफ कर सकती है? यों ही सरस्वती कमजोर है, मैं उसके हाथ से काम छीन लेती हूँ, वरना मेरी सतिया बड़ी काम की, बुद्धिमती लड़की है।

सुननेवाले मुँह फेरकर हँसते। सविता जैसी काम की थी, सो सभी जानते थे। सविता ने अब कुछ अँग्रेजी पढ़ ली थी।

उस दिन सविता कमलेश का ड्राअर खोले बैठी थी। काम की चिट्ठियाँ फाईल में रख रही थी और बाकी सब फाड़-फाड़कर ढेर लगा रही थी।

एक पत्र पढ़ते-पढ़ते अचानक उसका मुँह रक्त-हीन हो गया। यह कहाँ, किसके आश्रय में आकर वह बसी हुई है? ऐसी बड़ी दुनिया में क्या उसे जगह न मिल सकी थी जो उसी राक्षस के आश्रय की उसने भीख माँगी, जिसने कि उसकी माता का खून किया? सविता विचारने लगी—खून नहीं तो क्या! यदि विवाह से वह इन्कार न करते, तो माता शायद ही बीमार पड़तीं। और अन्त में? हाँ, यही राक्षस तो अन्त में वहाँ गया था, मा का रक्त चूसने। इसे देखकर मा का मुँह घृणा से कुञ्चित हो गया था। बोली थीं—यह किसे लिवा लाई है?

'नहीं-नहीं, यह न होंगे।'—जोर देकर सविता कहने लगी—वह हृदय-हीन, अर्थ-पिशाच व्यक्ति कोई दूसरा रहा होगा, जिसने कि रुपयों के पीछे अपनी वाग्दत्ता को त्याग दिया। जरूर वह व्यक्ति यह न होंगे।

पत्र था सविता के पिता का। पत्र में शादी की सायत-घड़ी लिखी हुई थी। पत्र लिखा गया था कमलेश को। उसमें दहेज के अलंकार, वर्त्तन की लिस्ट थी, एवं दान सामग्री तथा नकद बीस हजार रुपयों की शर्तवाली बात थी, कि जिसे पिता ने मानकर अपनी अन्तिम सम्मति दे दी थी।

'नहीं, यह न होंगे।'--सविता विचारने लगी--यह हो ही नहीं सकते हैं। किन्तु यह पत्र यहाँ कैसे पहुँच गया? शायद वह व्यक्ति इनका मित्र हो।

सागर में डूबती हुई नौका को एक तृण का सहारा-सा मिल गया। घुमा-फिराकर बार-बार सविता कहने लगी--अवश्य वह इनका मित्र है। हाँ है। ऐसी सुन्दर और सरल आकृति में वह हृदयहीन घातक रह ही कैसे सकता है? इस वीरश्री-से अवयव में वह पुरुष, जिसने कि अपनी वाग्दत्ता को अनायास परायी करना चाहा है, उस घृणित का स्थान हो ही कैसे सकता है?

त्याग दिया! उसने अपनी वाग्दत्ता को त्याग दिया!--इस बात को विचारते ही सविता घृणा, अपमान से काली पड़ गई। इस अकेले कमरे में भी अपमान की लज्जा से वह लाल हो गई, पसीने से डूब गई। छिः-छिः कैसी घृणित, हेय, नीच प्रवृत्ति है उस व्यक्ति की। तो मेरा मूल्य दुनिया में कुछ नहीं है? अन्ततः उसके पास तो कुछ न रहा! पिता के पैसे के बल पर बिक रही थी। और उन तुच्छ रुपयों के परे जो एक शान्त, शिष्ट प्रेम, श्रद्धामयी भक्ति, प्रेमभरा ध्रुवतारा-सा उज्ज्वल नारी का मन रहा, उस ओर उसने भूलकर भी न देखा। रूप यौवन यदि समय का सौदा है, तो हो; किन्तु वह हृदय तो मरने का साथी है न? परन्तु उसका मूल्य? नहीं, दुनिया के पास कुछ नहीं है। है केवल रुपयों का मूल्य। लज्जा, लज्जा! उसका मूल्य कुछ नहीं है, एकदम कुछ नहीं। लज्जा से सविता ने अपने आँचल में मुँह छिपा लिया। और उन बन्द नेत्रों के भीतर पुञ्जीभूत अन्धकार को ठेलती हुई एक कुत्सित, भीतिप्रद वृद्धा आकर खड़ी हो गई। शायद वह लज्जा का नग्न रूप हो, या और कुछ हो, शायद वह सविता के मन की भ्रान्ति हो या और कुछ हो। किन्तु सविता उस रूप को देखकर घबराकर उठ खड़ी हुई। देखा, पाया अपने को एकान्त कमरे में। हाथ में एक पत्र, जो कि पसीने से विवर्ण हो रहा था।

किन्तु.. वह विचारने लगी--किन्तु लिफाफे पर तो इनका नाम-पता साफ लिखा हुआ है न। फिर? क्या यही? सविता और विचार न सकी। पत्र लिये बाहर की ओर भागी।

लाइब्रेरी में जब सविता पहुँची तब कमलेश पुस्तक में ऐसा डूबा हुआ था

कि वह सविता की उपस्थिति तक न जान पाया। सविता उसकी कुरसी से लगकर खड़ी हो गई—क्या तुम वही हो?

कमलेश चौंका। किताब हाथ से छूटकर जमीन पर गिरी। विस्मय से उसने पलभर के लिए तरुणी की कम्पित देह के प्रति देखा, फिर माता-जैसे आदर-यत्न से जमीन पर पड़ी पुस्तक उठाई। अपने परिहित वस्त्र से उसे झाड़-पोंछकर टेबुल पर रखा, देख लिया कि पुस्तक को कुछ हानि तो नहीं पहुँची? इसके बाद कमलेश ने पूछा—काँप क्यों रही हो? क्या बात है? जी खराब तो नहीं है?

'बोलो, बोलो जवाब दो।'

'अरे तो भाई क्या जवाब चाहती हो? बात भी कुछ सुनूँ।'

'पूछ जो रही हूँ।'

'सो क्या? बात क्या है?'

'तुम वही हो?'

'यहाँ ज्योतिष थोड़े ही मैं पढ़ा हूँ, जो तुम्हारे मन के प्रश्नों का जवाब दूँ।'

'यह पत्र तुमको लिखा गया था?'—पत्र दिखलाकर सविता ने पूछा।

ताच्छल्य से कमलेश ने उत्तर दिया—इस ज़रा-सी बात के लिए ऐसी पूछ ताछ!

'ज़रा-सी बात?'

'और नहीं तो क्या?'

'अच्छा कहो, तुम्हें यह लिखा गया था?'

'देखती नहीं हो—मेरा ही नाम लिखा हुआ है? इस घर में और दो-चार लड़के हैं, जो उनकी शादी की बात चलती? मैं हूँ। बैठ जाओ।'

सविता ने एक बार अपरिसीम घृणा से उसे देखा और फिर जैसी आई थी वैसी ही लौट गई।

कमलेश विस्मय से उस ओर निहारने लगा। दो-चार मिनट उसने ऐसा किया। फिर किताब खोलकर पढ़ने बैठ गया। एक बार जी में आया कि चलकर पूछूँ जी कैसा है। किन्तु दूसरे पल वह पुस्तक में अपने को खो बैठा।

[ ११ ]

सविता के नेत्र में न आँसू थे, न लज्जा, न ज्वलन्त घृणा। नहीं, कुछ नहीं ; था केवल एक विराट् सूनापन। आधी रात की एकाकी नीरवता में, अकेली वह कमरे के कोने में दबकी बैठी रही।

रात्रि की वह चुप्पी उसके सूनेपन में मिलकर एकाकार हो रही थी। उस सूनेपन का न कोई रूप था, न रंग। स्तब्ध थी सविता—शव-सी भाव-भाषा-शून्य। घृणा ? वितृष्णा ? परन्तु करती किस पर ? उस सूने मन को लेकर ऐसी बड़ी पृथ्वी पर घृणा, द्वेष करती ही कैसे ? फिर पृथ्वी भी तो सूनी थी न ?

सूनी ? नहीं तो क्या। घड़ी में दो की घण्टी बजी। चौंककर सविता उठ बैठी। उस शब्द को सुन सकने से उसका जी कुछ हलका सा हुआ। बत्ती जलाकर वह घड़ी को देखने लगी। बिजली के प्रकाश में कमरे से रात की अँधेरी जाती रही।

स्तब्ध विस्मय से सविता घड़ी के सामने वैसी ही खड़ी रह गई। यह कौन-से दैत्य, दानव या देवता का परिहास है ? वह तो विचार भी नहीं पाती। यह किसके आश्रय में वह आ गई ? और फिर सब बात जान लेने के बाद भी वह वहीं पर बैठी है। अपरिसीम घृणा से उसके मुख की रेखाएँ कुञ्चित हो गई।

सविता ने धीरे से द्वार खोला। नहीं, अब वह एक पल भी यहाँ रह न सकेगी। और चलती ही चली जायगी। अन्धकार के काले स्तरों में वह अपनी सत्ता को निश्चिह्न कर डालेगी। उन स्तरों में मिलकर वह भी एक काला स्तर बन जायगी। अपने सूने मन को लेकर इस सूनी पृथ्वी के किसी सूने कोने में काली लकीर-सी कहीं पड़ी रहेगी। बस।

सब द्वारों को खोलकर सविता बाहर के हाते में पहुँच गई, एवं लौहद्वार को भी खोल लिया। ऊँचे वृक्षों पर से कोई पक्षी फड़फड़ा उठा। काली रात के स्तरों से कोई फुसफुसाकर हँसने लगा। सविता चौंकी। जाते-जाते वह

लौटी। एक बार ऊपर की खुली खिड़की की ओर देखा। कमलेश के कमरे की बिजली वैसी ही अम्लान जल रही थी।

सविता ने देखा और देखा। अन्धकार में प्रकाण्ड हाथी-सा मकान खड़ा था और खिड़की से निकलता हुआ उज्ज्वल प्रकाश एक छोटे तारे-सा हँस रहा था। सविता के नेत्र विस्फारित हो गये। उसे लगा उस प्रकाश के अणु-परमाणु में एक अद्‌भुत मुसकान थिरक रही है। सविता वहीं जमीन पर बैठ गई। वह कहाँ जायेगी और जा ही कैसे सकती है?

सविता उठी। वह भागना चाहने लगी। उस खिड़की की ओर से घृणा-विराग से मुँह फेरना चाहने लगी। किन्तु फिर भी वैसा न कर सकी। ऐसा बड़ा विस्मय सविता के जीवन में प्रथम बार आया। ऐसे विचित्र असमञ्जस का सामना वह कैसे करे? किस तरह यह सच सहे वह? विचारने लगी सविता—ऐसा परिहास करनेवाला वह व्यक्ति है कौन? जो उसका घृणास्पद था, उसे प्रेमास्पद बना दिया। जिसकी छाया तक से उसे घृणा थी, उसी की छाया में उसे बैठा दिया। जिस अर्थ-पिशाच ने उसके नारीत्व को पैरों तले रौंदा उसी के द्वार पर उसे भिखारिन बना दिया गया। जिसने उसकी माता की हत्या की, उसी हत्यारे को बना दिया उसका पीतम। जीवन के साथ जीवन ही का यह कैसा नग्न, कुत्सित परिहास! अरे, वह अब जाय कहाँ? करे क्या? उन्हें देखे बिना रहे कैसे? यही है सत्य! किन्तु ऐसे सत्य से तो वह कभी भी परिचय करना न चाहती थी। मिथ्या ही में वह तो सुखी थी। यदि दुनिया सत्य की पुजारिन है तो रहे; वह तो मिथ्या ही में घुल-मिलकर रहना चाहती थी। फिर ऐसा उलटा किसने कर दिया?

सविता वहाँ रह भी नहीं सक रही थी और जा भी नहीं सक रही थी। उसके एक ओर थी घृणा, दूसरी ओर प्रेम। एक ओर आँसू, दूसरी ओर खुशी। एक ओर खोने का दुःख, दूसरी ओर पाने का सुख। और इन्हीं दो के निष्पेषण में पिसी छोटी लड़की सविता, भोली-सुहावनी सविता सिसक-सिसककर रोने लगी—कहाँ...कहाँ...तो वह जाय कहाँ?

"हिः हिः हिः हिः—कोई पखेरू हँस पड़ा। पेचक फड़फड़ाने लगा।

रोमाञ्चित सविता ने आकाश की ओर देखा, तारा-मा कहीं न दिखीं। बाहर-भीतर, आस-पास केवल अन्धकार और अन्धकार ! सविता चीखती-चिल्लाती हाते के भीतर उन्मादिनी-सी दौड़ती फिरने लगी।

अत्यन्त विस्मय से कमलेश टार्च लिये दौड़ा-दौड़ा नीचे चला आया। तभी-तभी वह किताब बन्द कर सोने जा रहा था। परन्तु उस आर्त चीत्कार ने उस-जैसे मनुष्य तक को विचलित कर दिया। भागा हुआ कमलेश नीचे आया।

टार्च के उज्ज्वल प्रकाश में एक ने दूसरे को देखा, बिलकुल पास से।

सविता को पहचान सकने के साथ-ही-साथ कमलेश ने विमूढ़-विस्मय से पुकारा—सविता !

उत्तर कुछ न मिला।

'सविता, सविता, तुम्हें क्या हो गया है ?'

एक पल सविता ने उसे देखा, न देखा, उसका चेतना-हीन शरीर कमलेश के पैरों तले लोट रहा।

आकाश तले कोई पखेरू हँस उठा—हिः हिः हिः हिंः।

[ १२ ]

सविता ने धीरे-धीरे आँखें खोल दीं। सूर्य की अनुतप्त, प्रथम सुवर्ण-रश्मि पृथ्वी पर फैल रही थी; आश्चर्य से उसने चहुँओर देखा। शय्या पर अपने को पड़ी पाया। दास-दासियों की भीड़ द्वार पर थी। कई डाक्टर उसे घेरकर बैठे थे। कमलेश स्टेथिसकोप से उसके हृदय-स्पन्दन को कान लगाकर सुन रहा था। और गृहणी उसे निहारती सिसक रही थीं।

उसे निहारते देखकर सत्यभामा उसके मुख पर झुकीं—मेरी सुरसतिया, लाड़ली बिटिया, क्या हो गया था तुझे ? मेरी रानी, बोल अब जी कैसा है ?

कमलेश ने इशारे से माता को निषेध किया। डाक्टरों ने नब्ज देखा, प्रसन्न मुख से बोले—शङ्का अब नहीं है माजी, आप शान्त होकर बैठें। बाई की तबियत अब ठीक है।

'मेरी सतिया अच्छी हो जायगी न? उसके बिना मैं जीऊँगी नहीं डाक्टर।'

'सविता अब अच्छी है मा। घबराओ नहीं। देखो न, तुम्हें रोती देखकर वह घबरा रही है।'—कमलेश ने कहा।

'मेरी सतिया घबरा रही है? नहीं, मैं रोती कहाँ हूँ बिटिया?'

ज़रा ठहरकर गृहिणी ने पुकारा—सतिया!

'मा।'

'अब जी कैसा है?'

'अच्छा है अम्मा।'

'क्या हो गया था तुझे?'

'मुझे?'—विस्मय से उसने पुनः पुनः सबको देखा फिर बोली—कुछ तो नहीं।

सविता ने कमलेश की ओर मुँह करके पूछा—क्या मैं बीमार हो गई थी?

'हो गई थी। अभी चुपचाप पड़ी रहो।'

'मुझे कुछ भी खबर नहीं। क्या हुआ था?'

सत्यभामा के कुछ कहने से पहले शीघ्रता से कमलेश ने कहा—विशेष कुछ नहीं। यों ही थोड़ा-सा बुखार।

सविता ने आँखें बन्द कर लीं। वह विचारने लगी—बुखार? कब बुखार आ गया, कैसा बुखार आया कि सुध तक जाती रही! जाने कैसा वह बुखार रहा? बहुत विचार करने पर भी बीमारी की बात वह स्मरण न कर सकी। हाँ, इतना स्मरण आया कि रात में वह कहीं भागी जा रही थी। भागी जा रही थी? परन्तु क्यों? धीरे-धीरे कुछ अस्पष्ट सपना-सा उसे लगने लगा। कुछ बातें याद हो आईं। और वह पत्र? एकदम सविता सिहरी।

गृहिणी चिल्लाईं—देखो-देखो कमला, बिटिया फिर कैसा कर रही है। कमलेश नब्ज देखने लगा।

सविता ने नेत्र खोल दिये—यही है, यही-यही। उसके जीवन का वह

दुष्ट ग्रह यही है, यही-यही। इसी व्यक्ति को वह दुनिया में सबसे अधिक घृणा करती है।

यद्यपि कमलेश के स्पर्श से सविता का प्रत्येक लोमकूप घृणा से संकुचित होने लगा; किन्तु फिर भी वह उस हाथ को हटा न सकी। और अधिक आश्चर्य तो यह है कि उसी घृणित स्पर्श को उसकी शिरा-उपशिरा, प्रत्येक रोम के रन्ध्र चातक की-सी तृष्णा से चूस लेने लगे। मिनट-भर इसी भाँति कटा।

कमलेश नब्ज छोड़कर कुरसी पर बैठ गया। रोगिणी उसकी अच्छी थी।

तृप्ति से सविता का जी भर उठा। पा गई थी, पा गई थी वह जीवन का पाथेय।

उस स्पर्श का जीवन ही कितना था? बूँद भर मदिरा, ठुमरी की एक मुरकी, अभिसारिका की पहली रात, छोटा, बहुत छोटा जीवन। परन्तु सविता के अंतर में स्पर्श का वह छोटा जीवन विनाश-हीन हो रहा, वैसे ही चिरन्तन, चिर मोहन, चिर जीवित होकर; वैसे ही थोड़ा-सा छल, थोड़ी-सी हँसो, थोड़ा-सा देखना, थोड़ा-सा मधु लेकर।

रात दस न बजे पाये थे, कमलेश के घर भोजन आदि हो चुका था। नित्य दस के पहले गृहवाले भोजन से निबट जाते थे। परन्तु प्रातः-काल भोजन से निवृत्त होने में एक बज जाता था। कुछ नौकर चौके में भोजन करते थे। उन सब को भोजन करवाकर गृहिणी प्रायः एक बजे छुट्टी पाती थीं। दोपहर में उन्हें घण्टे भर सोने का अभ्यास था। उसके बाद कहीं बैठने जातीं, या तो कोई बैठने आ जाती। कभी सविता उन्हें महाभारत, रामायण सुनाती, दासी पैर दाबती रहती।

सविता के काम थोड़े-से थे। प्रातः सन्ध्या सत्यभामा की पूजा का उपकरण ठीक कर देना, चन्दन घिसकर, फूल चुनकर, बेलपत्र, धूप-दीप, नैवेद्य सब क्रम से वह ठीक कर देती थी। पूजा का कमरा अपने हाथों धोती। स्वर्ण-सिंहासन पर बैठे ठाकुरजी के लिए गजरा-हार बनाती। तब तक गृहिणी घर-गृहस्थी के धन्धों से निबटकर स्नान करतीं; फिर ठाकुरजी के लिए भोग बनातीं। कभी भोग बनाने में सविता भी सहायता करती। थोड़ा-थोड़ा बनाना

वह सीख रही थी। उसके बाद सविता जल-पान कर कमलेश के कमरे को साफ करती। टेबल, कुर्सी आदि नौकर झाड़-पोंछ जाता, उन्हे सविता फिर से झाड़ती पोंछती।

दो घंटे के बाद सत्यभामा की पूजा समाप्त होती। वह सर्वप्रथम सविता को बुलाकर ठाकुरजी का चरणामृत देतीं। थोड़ा कमलेश के मस्तक पर छिड़कतीं। तब नौकरों को देतीं। उसके बाद सविता को स्नान करवातीं, सामने बैठकर उसे भोजन करवातीं। दोपहर में कुछ देर सविता पाठाभ्यास करती। फिर सत्यभामा के निकट बैठती। सन्ध्या समय भी यही नियम रहता।

गृहिणी निश्चिन्त, आराम से ग़लीचे पर लेटी थीं। सविता उनकी गोद के पास बैठी कह रही थी—साँझ-बेला बगीचे में जाने से क्या होता है मा ?

'कुछ नहीं।'

'फिर मुझे मना क्यों करती हो ?'

'तू मत जाया कर बिटिया।'

'क्यों, कहो मा।'—एक हठी बालिका-सी वह जिद करने लगी।

'बड़ी जिद्दी है तू सतिया। भोगे बैठी है, फिर भी पूछती है।'

'क्या भोगे बैठी हूँ, मुझे कुछ भी याद नहीं।'

'याद कैसे रहे ! उस दिन तू अपने वश में थी कहाँ सरस्वती ?'

'कब, कौन-से दिन री अम्मा ? सच मानो मुझे कुछ याद नहीं।

'उस दिन तू बेहोश न हो गई थी। वह सब गन्धर्व का खेल था। समझी ?'

'कैसा खेल मा ?'—द्वार के बाहर से परम आमोद से पूछा कमलेश ने।

'भीतर आओ कमल।'

कमलेश आकर माता के निकट बैठ गया।

यह कुछ न माननेवाला और सत्यान्वेषी युवक चाहे दिन भर कहीं भी रहे, शराब पिये, कुछ भी करे ; परन्तु रात में घंटे भर वह माता के निकट बैठता ही था। चाहे कितना भी काम रहे, किन्तु घंटे भर का समय उसका न टलता।

'गन्धर्व ने कौन-सा खेल खेला अम्मा ?'—हँसकर कमलेश ने फिर अपना प्रश्न दुहराया।

'हँसता है कमला, किन्तु बात सब सच है। सोचो तो सही, उस दिन कैसा सर्वनाश हो जाता। यदि गन्धर्व सुरसतिया को न छोड़ता तो ? वह तो मैंने इष्ट-मन्त्र का जप कर लिया।'

'तो इन्हें गन्धर्व लगे थे ?'—परिहास से कमलेश के नयन हँसने-से लगे।

'लगेगा नहीं तो क्या ? एक तो ऐसी परी सी लड़की, उस पर जवान। बेरा-कुबेरा बगीचे में घूमना कहीं अच्छा होता है ? जाने कब कैसी नजर लग जाय।'

सविता गृहिणी के निकट जरा और खिसककर बैठी।

अत्यन्त आग्रह से पूछा सविता ने—'गन्धर्व कौन हैं मा ?'

'स्वर्गलोग के वासी। कभी फूल की महक लेने बगीचे में आ जाते हैं। और खूबसूरत लड़की की सुगन्ध जहाँ उन्होंने पा ली, बस मोहित हो गये। और फिर उस पर उनकी दृष्टि पड़ गई तो सर्वनाश ही हो गया।'

'दृष्टि पड़ने से क्या होता है मा ?'

'उसे वह अपना कर लेते हैं।'

'तो इन पर गन्धर्व भी मोहित हो गये थे ? तब क्या कहना है। अब यह भी देव-देवी-सी पूजी जाने लगेंगी। है न सविता ?'

'जाओ।'—कहकर वह भाग गई।

स्नेह-करुणा से गृहिणी उस ओर देखने लगीं, जब तक कि वह दृष्टि के बाहर न हो गई।

'न जाने मेरी भोली सतिया किसके घर जायगी। हाँ बेटा, सुनो तो, लड़की सयानी हो गई। बर ढूँढ़ो, कब तक उसे रखूँ ?'

वर ? कमलेश विचार में पड़ गया—यह अपनी-सी सविता पराई हो जायेगी ? इस भावना से उसका मन जाने कैसा करने लगा। अकारण ही वह उदास हो गया।

'सुनते हो कमला, कहीं अच्छा पात्र देखो, सुरसतिया के लिए मैं खर्च करूँगी। क्या करूँ, इसे बाहर जाने न देती, किन्तु ऐसे वंश में एक अज्ञात-

कुल-शील, विशेषकर अनाथ लड़की को बहू बनाना सम्भव नहीं। स्वर्ग में बैठे मेरे श्वसुर अभिशाप देंगे। उन्हें अपने सद्वंश का बड़ा खयाल रहता था। और कहीं देखो कमल।'

'मैं कहाँ देखूँ?'—अनमना-सा बोला वह।

'तुमसे कुछ होने का नहीं।'—गृहिणी ने कुछ देर विचारा, फिर कहा—पृथीश से इसकी शादी क्यों न कर दी जाय? पैसेवाला है। पृथीश लड़का भी अच्छा है।

'अच्छी बात है।'

'इधर पृथीश जाने कब से नहीं आया। सुरसती के आने के बाद एक बार आया था। कहीं उससे झगड़ा तो तू नहीं कर बैठा?'

'उससे भला मैं क्यों झगड़ने लगा। वह यहाँ नहीं है।'

'नहीं है? तभी नहीं आया। मेरे हाथ के बनाये पुए और दही बड़े उसे बहुत पसन्द हैं। बड़ी रुचि से खाता है। कहाँ गया है?'

'क्वेटा। भूकम्प-पीड़ितों की सेवा के लिए।'

'बस इन्हीं कामों में तो वह लुटा हुआ है। कब तक आयेगा?'

'कल परसों तक शायद आ जाये।'

'ऐसी जल्दी क्या आयेगा।'

'आना ही पड़ेगा। काँग्रेस की मीटिङ्ग है न।'

'अच्छा। एक बात और है।'

'कहो मा।'

माता को इतस्ततः करते देखकर कमलेश विस्मित होने लगा।

'मुझसे अब अकेला रहा नहीं जाता।'

'और मैं जो हूँ।'

'तू तो मेरा बेटा ही है, सतिया है बेटी। परन्तु अब एक तीसरी की भी जरूरत पड़ गई है।'—आदर-स्नेह से पुत्र की पीठ पर हाथ फेरती मा ने कहा।

'तुम्हारी सुरसती है न।'

'वह पराये घर चली जायेगी। लड़की कहीं अपनी हुई है? मैं तो

कमला, उन्हीं लोगों को पक्की बात दिये देती हूँ। जिससे अगले मास विवाह हो जाय। मेरा घर भर उठे।'

'परन्तु उसे तो तुम लिखी-पढ़ी लड़की बता रही थीं न? और कालेज की शिक्षा से तुम्हें घृणा है। इसी कारण तुम उस लड़की को लाना नहीं चाह रही थीं।'

'फिर किया क्या जाय? वैसी सुन्दर लड़की दूसरी मिली नहीं।'

'और वह आकर चप्पल फटफटाती तुम्हारे ठाकुर-घर में न जायेगी?'—कमलेश माता को चिढ़ाने लगा।

'ठाकुर-घर में उसे जाने क्यों दूँगी?'

'ऐसा?'—गम्भीर मुद्रा किये कमलेश कहने लगा।

'जाने कितने अण्डे और मुरगी उसने खाये होंगे। हाँ तो, जरा गङ्गाजल पिलाकर शुद्ध कर लेना। और सुनो तो मा, जब वह मुँह खोलकर तुम्हारे सामने आये, तब न हो तो तुम्हीं अपना मुँह ढाँक लेना। यही ठीक रहेगा। और...'

'चल, हट, चुप रह। जा यहाँ से।'

कमलेश हँसता हुआ जाने लगा।

गृहिणी ने कहा—चाहे कुछ भी हो, मैं वहीं पर बात पक्की कर लेती हूँ कमला।

'जैसी तुम्हारी इच्छा। मुझसे क्यों पूछती हो? यह तुम्हारी है। तुम जानो और वह जाने। मैं तो तुम्हारी आज्ञा पालने के लिए सदा तैयार रहता हूँ। बस।'

गृहिणी ने तृप्ति की साँस खींची।

कमलेश चला गया।

[ १३ ]

उस दिन 'मा-मा' पुकारता हुआ कमलेश जब पहुँचा तो गृहिणी पूजा कर चुकी थीं।

'किसे लाया हूँ देखो मा।'

सामने खड़ी थी सविता। पृथीश ने सविता को देखा और देखा सविता ने पृथीश को।

थोड़ी-सी हँसी, थोड़ा-सा कौतुक, थोड़ी-सी लज्जा, थोड़ा-सा विस्मय था उन दृष्टियों में।

सविता को स्मरण हो आया—इस व्यक्ति को इस घर में उसने एक बार और देखा था।

हठात् अपरिचित के सामने पड़ जाने की लज्जा से सविता लज्जावती लता-सी सिमट रही।

और पृथीश ने देखा पावन के दीवट-सी आयत लोचन की शान्त दृष्टि को—जरा सम्भ्रम, जरा-सी भक्ति, जरा श्रद्धा के साथ।

गृहिणी ने अत्यन्त स्नेह से प्रणत पृथीश के माथे पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया।

सविता से गृहिणी नें कहा—आसन ले आ बेटी, इन्हें पहचान गई न? पृथीश है। इसी की बातें तुझसे कहा करती हूँ। जैसा मेरा कमला है, वैसा पृथ्वी।

दोनों मित्र बैठ गये। माता बीच में बैठीं। सविता जा रही थी, गृहिणी ने उसे भी बैठा लिया—शर्माती क्यों हो बेटी? यह कोई दूसरा थोड़े ही है, घर का लड़का है।

पृथीश स्मित हँसा।

'बूढ़ी मा को छोड़कर कहाँ भागा-भागा फिरता है पृथ्वी?'

'क्वेटा गया था। और वहाँ तुम्हें ही तो अनेक रूपों में देखता था मा। मिट्टी, ईंटे, पत्थरों के ढेर के नीचे से, जब माँस का पिण्ड निकालता था, जब छितरे-छितरे शिशु के शरीर निकालता, किसी की आँख के स्थान में गड़हा, लोथ-सा कोई भयानक चेहरा, किसी दबे हुए मनुष्य का चूर्ण-विचूर्ण शरीर जब निकालता, तब तुम्हारी ही कल्याणमयी छाया मुझे कुछ कर सकने की शक्ति, और प्रेरणा देती, मेरे अवश शरीर में ताकत भर देती। ऊपर से वर्षा, पृथ्वी का कम्प और अनशन-क्लिष्ट धन-जन लुटे हुओं का आर्त

चीत्कार ! उन भयानक दृश्यों को देख सकने की शक्ति तुम्हीं तो दिया करती थीं मा !'

सत्यभामा के नेत्र छलछला उठे। साथ ही स्नेह-प्रेम से उस लड़के के प्रति उनका जी भर उठा। आँसू छिपाने के बहाने सविता ने मुँह फेर लिया। और परिहास आकर कमलेश के कण्ठ ही से लौट गया।

कमलेश जबरन हँसने की चेष्टा करने लगा—सविता, इन्हें जरा मिठाई खिला दो। वरना लूट-मार मचायेगा। ग्रेट वार से लौटा हुआ है। रसद लूट-कर यह पक्का डाकू हो गया है।

बात सविता को बड़ी अच्छी लगी। वह जरा और खिसककर बैठ गई।

'तो क्या मैं लुटेरा हूँ ?'

'हो ही। तुम्हें विश्वास नहीं हो रहा है सविता ? तो देखना, जरा देर में यह मिठाई की थाली खाली न कर दे तो कहना।'

गृहिणी ने उठते-उठते कहा—क्यों उसके पीछे पड़ा है कमला। पृथ्वी जरा मिठाई चाहता है, यही न ? कहीं दूसरे के घर थोड़े ही खाता है। अपने घर चाहे वह कुछ भी करे। मैं उसकी भी मा हूँ न ?

'लो सुन लिया ?'—पृथ्वीश ने आमोद से कहा।

'तुम दोनों की थाली परसाकर मैं भिजवाती हूँ। सतिया पानी-वानी रखवा देना।'

'दही-बड़े हैं न ?'—पृथ्वीश ने पूछा।

'आज नहीं हैं। मैं क्या जानूँ कि तू आ रहा है। कल जरूर बना दूँगी।'

'अपने हाथ से बनाना !'

'अपने ही हाथों बनाऊँगी बेटा।' गृहिणी चली गई।

'तुम दही-बड़े बनाना नहीं जानतीं ?'—पृथ्वीश ने सविता से पूछा।

सविता शर्म से सिमट रही।

'कहो न, जानती हो ?'

'अम्मा से सीख रही हूँ। किन्तु उनकी तरह नहीं बनते।'—जरा साहस कर वह बोली।

यह सरल उत्तर पृथीश को बड़ा अच्छा लगा।

'सीख जाओगी।'

'पुए बना लेती हूँ।'

'अच्छा।'—मुँह पर विस्मय फैलाकर पृथीश ने कहा। और इसी तरह धीरे-धीरे अपरिचित का संकोच हटने लगा।

कमलेश दबी हँसी हँसने लगा।

[ १४ ]

वर्षा ऋतु की गहरी रात में सुप्त पृथ्वी के आँचल में पड़ी चाँदनी सिसक रही थी। न जाने कौन-सी व्यथित कहानी, बिछुड़े प्रेम की कौन-सी वह याद इस एकान्त में उसके आँसू वहाने में लगी थी। न जाने कितने पथिकों के पद-चिह्न उसके रजत-शुभ्र वसन पर अंकित थे। कितने ही चिता भस्म के कण उसके तुषार-शुभ्र पद में लिपटे थे। कितनों की जीवन-वार्ता उसके स्निग्ध हृदय में छिपी हुई थी। कितने ही आर्त चीत्कार उसकी नसों में लिपटे हुए थे। कितनी ही अभिसारिकाओं की नूपुर झंकार उसके पायलों में चिपटी पड़ी थी। कौन जाने वह किसकी याद में सिसक रही थी।

उस सोती रात में सविता का द्वार खुला। भारी देह-मन लिये वह बाहर आई। आँगन के केले के वृक्ष के नीचे बैठ गई। तब एक भी पखेरू नहीं बोल रहा था, एक भी पथिक राजपथ से नहीं चल रहा था, एक भी पत्ती नहीं डोल रही थी। एक भी झींगुर नहीं गा रहा था। सिसक रही थी केवल चाँदनी और उसी रोने को हृदय में दबाकर सिसकने लगी सविता।

उस विकल वेदना को देखकर चाँदनी अवाक् हो गई। केले के पत्तों से छनकर मुट्ठी भर चाँदनी सविता के सामने आकर स्तब्ध हो रही।

'वेदना का यह कैसा रूप है? व्यथा के यह कैसे आँसू हैं? सखी, सखी, बोल तो कुछ मुझसे! पृथ्वी की आतुरता, पृथ्वी की हँसी-खुशी, प्रेम-अभिसार मेरी नसों में थिरका करता है। सखी-सखी, अनोखी रूपसी, बोल तो कुछ मुझसे।'—पूछा उस मुट्ठी भर चाँदनी ने।

किन्तु उत्तर देता कौन? कदाचित् सविता ने वे प्रश्न सुने, न सुने। वह

वैसी ही बैठी रोने लगी। अपने उस लुट जाने की कथा वह सुनाती कैसे? नारीत्व के ऐसे बड़े अपमान की खबर वह पृथ्वी को कैसे सुनाती?

सविता ने आज कमलेश के विवाह की खबर सुन ली थी। उसके साथ? नहीं, वह भाग्यवती नारी कोई दूसरी थी, वह नहीं। विवाह की तैयारियाँ हो रही थीं। घर-मकान साफ हो रहे थे। चावल-दाल चुने जा रहे थे। सुनार के घर गहने बनने जा चुके थे। मनों मिठाई बन रही थी। रसगुल्ले, कलाकन्द आदि की कढ़ाइयों को पड़ोस के बालक-बालिका घेरे खड़े थे। विवाह और फिर अतुल धन के स्वामी, घर के अकेले लड़के प्रभु का विवाह। ऐसे विवाह में यदि समारोह का प्राचुर्य्य हो तो विस्मय की बात नहीं है। आडम्बर से कमलेश के विवाह की तैयारियाँ हो रही थी। और उस समारोह के अतल में दबी सविता निश्चिह्न होना चाह रही थी। किन्तु हो रहा था उसका उलटा, छोटे-बड़े सब कामों में उसकी पुकार थी।

जीवन में जब ऐसे बड़े असामञ्जस्य का उसे सामना करना पड़ गया, तो पहले वह शव-सी स्पन्दन-हीन हो गई। जीवन के उस विचित्र परिहास की वेला में सविता शव सी अकड़ी रह गई।

फिर उसके बाद उसे अपने इस छोटे जीवन से समझौता करने की जरूरत पड़ गई। समझौता? किन्तु किस बात का समझौता वह करती? लाभ का अंश तो उसका खाली था न? बिलकुल खाली। वहाँ केवल बना था—एक साफ-सुथरा शून्य और बस शून्य ही! व्यय करने बैठकर, दान के गर्व से, लुट जाने की खुशी में वह छोटी लड़की सम्पूर्ण लुट गई थी। इसकी ख़बर जब उसे लगी, तब करने-कराने को कुछ शेष बच नहीं गया था। एक ओर अपमान का काला बादल दूसरी ओर लज्जा की घनी झाड़ी। इन दोनों के बीच में खड़ी थी वह—लुटी हुई सविता। इसके बाद वह रात की चुप्पी में बैठी रो पड़ी।

दूसरे दिन कमलेश के घर शहनाई बज उठी। आत्मीय-परिजन से घर भर गया।

'सुरसतिया-सुरसतिया!'—पुकारती हुई सत्यभामा सविता को हिलाने लगीं।

केले के नीचे पड़ी-पड़ी सविता कब सो गई थी, उसे कुछ भी पता नहीं।

गृहिणी की पुकार सुन व्यस्त भाव से सविता उठकर बैठ गई। दिन निकल चुका था।

सत्यभामा ने उसे गोद में उठा लिया—मेरी लाड़िली बिटिया, यहाँ क्यों पड़ी है ? बुखार तो नहीं आया ?

'अच्छी हूँ अम्मा।'—लजाकर वह बोली। हाथ-मुँह धोकर बाथरूम से लौटता हुआ कमलेश सामने आकर खड़ा हो गया।

'बात क्या है ?' कमलेश ने पूछा।

'यहाँ पड़ी सो रही थी सुरसती। तुझे कौन-सा दुःख है बिटिया, जो रेशम की चादर छोड़कर धरती में पड़ी थी ?'

सविता को रोना आ गया। सत्यभामा से लिपटकर वह रो पड़ी।

कमलेश हँस न सका, यद्यपि वह कुछ परिहास करना चाह रहा था। कमलेश वहीं बैठ गया और सविता के सर पर हाथ फेरने लगा। अधिक आश्चर्य की बात यह है कि किसी के आँसू ने कमलेश के मन पर करुणा का पहला कण भर दिया—प्रथम बार। आर्द्र-स्वर से उसने पूछा—सविता, जी खराब लग रहा है ? वैसा...उस दिन जैसा ?

'वही बात है बेटा, मेरी सतिया का पीछा उस गन्धर्व ने छोड़ा नहीं।'—गृहिणी ने उत्कण्ठा से कहा।

सविता कुछ सहमी-सी हँसने का व्यर्थ प्रयास करती हुई बोली—नहीं अम्मा यहाँ बैठी-बैठी सो गई थी। मैं अच्छी हूँ। देखती नहीं हो ?

'अच्छा, ऐसा कहो कि यहाँ बैठकर उस गन्धर्व की याद की जा रही थी।'—परिहास करने से कमलेश का जी हलका पड़ गया। और अपने ही परिहास से वह हँसने लगा। परन्तु सविता को रोना आ गया। आँसू छिपाती वह उठकर भागी। सत्यभामा उदास, चिन्तित मुख से उसके पीछे-पीछे चलीं।

[ १५ ]

'सविता--सविता !'—पुकारता हुआ पृथीश कमरे में, दालानों में सविता को ढूँढ़ता फिर रहा था। कमलेश का घर बिजली के प्रकाश से उज्ज्वलतर हो

रहा था। भीतर-बाहर एक व्यस्तता थी। बारात निकालने के काम में सब व्यस्त थे। बाजेवाले बाजा सँभाल रहे थे। गाड़ी-घोड़ा, मोटर आदि फूल से सजाये जा रहे थे। चाँदी के कलश पर दीप उजियारे सोहागिन स्त्रियाँ खड़ी थीं।

पृथीश सविता को ढूँढ़ता फिर रहा था। अन्ततः भण्डार के कोने में वह मिल गई—कहाँ छिपी बैठी हो सविता? यहाँ मैं पूरे घर में भटकता फिर रहा था।

उस लड़की से मित्रता करने में पृथीश को देर न लग पाई थी। विशेषतः विवाह के काम-काज में वे दोनों एक-दूसरे के निकटतर मित्र बन बैठे थे, शायद इसकी खबर उन्हें भी न रही हो।

कभी-कभी वह लड़की ऐसी अपनी बन जाती, ऐसे शिशु से सरल प्रश्न करने लगती कि पृथीश मुग्ध हो जाता, उसे पराई सोचने का वक्त न पाता और तब पृथीश परम आत्मीय की तरह युद्ध आदि की कथा उत्साह से उसे सुनाने लगता।

'जाने तुम कहा ढूँढ़ रहे थे। मैं तो कब से यहाँ बैठी हूँ। बादाम काट रही हूँ।'

'इतने बादाम क्या होंगे?'

'खीर में पड़ेंगे।'

'पीछे काट लेना। या और कोई काट लेगा। अभी चलो। जल्दी उठो सविता।'

'चलो, कहाँ चलना?'

'दुल्हे को सजाना है! उसके माथे पर चन्दन कौन लगायेगा? मौर-और क्या सब बाँधना है, बड़ी झंझटें तो हैं। चलो, उसे सजा दो।'

'मैं?'—सविता एकदम स्तब्ध हो गई—आज उसे यह क्या करने के लिए कहा जा रहा है? परिहास है? परिहास और ऐसा परिहास! अदृष्ट का यह कैसा परिहास है?

किन्तु वह स्वयं अपने जीवन के साथ ऐसा रूढ़, कुत्सित परिहास कैसे करे? अपने ही पिया को अपने हाथों दूसरी स्त्री के लिए मौर कैसे बाँधे? जो एक दिन अनायास उसी का होनेवाला था, जिसकी आशा में वह वासर सजाये

बैठी थी, जिसका चित्र उसके रोम-रोम में अंकित है, उसी प्रिय को वह स्वयं दूसरी को कैसे लुटा दे ?

सविता का चौंकना पृथीश से छिपा न रहा। वह सिहर उठा। अवाक् पृथीश उसका मुँह निहारने लगा।

हठात् सविता सहमी। प्रायः दौड़ती हुई वह चली। कहती गई—चलो, देर हो रही है। मेरे बिना और कौन उन्हें मौर बाँध सकता है ?

सविता का आचरण पृथीश को जाने कैसा अद्भुत-सा लगने लगा। वह भाराक्रान्त चित्त से उसके पीछे-पीछे चल पड़ा।

छः बज चुके थे। कमलेश कुर्सी पर बैठा था और उसके बिलकुल टिककर खड़ी थी सविता। निविष्ट चित्त से सविता कमलेश के ललाट पर श्वेत चन्दन की बिन्दी लगा रही थी; चन्दनपूर्ण चाँदी का कटोरा बायें हाथ में थामे थी। और बारीक सींक दाहने में।

'अब तो छोड़ दो, घण्टेभर से यों बैठा-बैठा मैं अकड़ गया हूँ।'—असहिष्णु कमलेश ने कहा।

'ठहरो-ठहरो। हिलो मत। लो खराब हो गया न ? सब बिगड़ गया ?'

'बिगड़ गया तो जाने दो।'

'सीधे बैठते हो कि बुलाऊँ मा को ?'—झुँझलाकर सविता ने कहा।

मा के नाम से कमलेश शान्त हो गया। परिहास-तरल स्वर से बोला—चोर की सजा तो दे रही हो। किन्तु मैं भी बदला लिये बिना छोड़ूँगा नहीं। तुम्हारे दिन भी दूर नहीं हैं।

बात छोटी और सहज थी; किन्तु उस छोटी बात का पराक्रम छोटा न रह सका। सविता का हाथ अचनाक काँपा। उस कम्पित हाथ से कटोरी उसके वस्त्र पर गिर पड़ी और सारा चन्दन फैल गया।

'अच्छा हुआ।'—कमलेश जोर से हँसा।

विवर्ण मुख से सविता ने उसे एक बार देखा, फिर फूल के हार और गजरों को उठाकर उसे पहनाने लगी।

'किसी तरह चन्दन से पिण्ड छूटा तो अब गजरे उठा लाई। क्या मैं कोई पहाड़-पर्वत हूँ ! इतने गजरे कहाँ ठूँसोगी !'

'सभी पहनने पड़ेंगे।'

'तुम्हारे कहने से ? जाओ, नहीं पहनता।'

'मा को बुलाती हूँ।'

सविता को जाते देखकर कमलेश ने लपककर उसका हाथ पकड़ लिया—जाती कहाँ हो ? हर वक्त मा की घुड़की। ठहरो, पहले मजा चखाऊँ तुम्हें।

उस स्पर्श से सविता की सुध जाती रही। वह चित्र की भाँति खड़ी रह गई और कमलेश विजय-गर्व से अपने गले से हार उतार-उतारकर उसे पहनाने लगा। बाहर शहनाई अपनी धुन में अलाप रही थी। द्वार पर स्त्रियाँ मंगल-गीत गा रही थीं। ठाकुर-घर में सान्ध्य शंख बज उठा। और तब सविता सचेतन होकर खड़ी हो गई। विजित गर्व से सविता की आँखें हँस पड़ीं। तृप्ति की पहली श्वास निकली। गले से पुष्पहारों को उतारकर उसने कमलेश के गले में डाल दिया, केवल बेले के गजरे को अपने कण्ठ में रहने दिया। उसके बाद कमलेश को उसने प्रणाम किया।

'और यह क्या हुआ ?'—कमलेश वास्तविक विस्मय से कह उठा।

स्मित हास्य से सविता का मुँह उज्ज्वल हुआ। बोली—वह कुछ नहीं। अकम्पित हाथों से उसने मौर बाँधा, फिर चल दी।

'सविता ठहरो जरा।'—कमलेश ने पुकारा। किन्तु वह चली ही गई। पीछे लौटकर देखा तक नहीं।

बाहर शहनाई वैसे ही बज रही थी। स्त्रियों का गान उद्दाम था, शंख-नाद विराम-हीन था।

[ १६ ]

बिजली के प्रकाश में कमलेश का शयनकक्ष चमक रहा था। चहुँओर के बड़े दर्पणों के ऊपर पुष्प के तोड़े रखे हुए थे, पलंग पर फूल की सेज। ताजे फूल की गन्ध से कमरा सुगन्धित हो रहा था। कमरे के कोने-कोने में जाने कितनी सेन्ट की शीशियाँ खाली कर दी गई थीं। बिछे हुए गलीचे से सेन्ट

की तेज महक फैल रही थी। कीमती कोचों पर मखमल के गद्दे। कमरे के चहुँओर पुष्पहार सुरुचि के साथ लटकाये गये थे। पलंग के पास एक छोटा संगमर्मर का टेबल, उस पर चाँदी की सुराही, एक चाँदी का ग्लास। चाँदी की रकेबी में इलायची, लौंग, गुलाब-जल में बसे हुए पान के बीड़े पड़े सूख रहे थे। फूलदान पर रखा गया था गुलाब का तोड़ा।

कमरे की वायु में यौवन का कम्पन हिलोरें मार रहा था और उस कम्पन को हृदय में लिये सोहागरात की सोहागिन वधू रूपरेखा कोच पर बैठी थी। उसके स्वप्नमय नेत्रों में खुशी न समा रही थी, अधर के पान की ललाई पर हँसी न समा रही थी।

रेखा—रेखा रूपरेखा। जयजयवन्ती की चाल-सी रेखा—रूपरेखा का भानु-सा उत्तम रूप, सुगठित यौवन की पूर्ण छवि हृदय पर अंकित किये दर्पण उसकी आरती उतार रहे थे। रेखा के मद-भरे नयन कभी उधर उठ जाते, कितनी ही अनिन्द्य सुन्दरी चहुँओर के दर्पणों से झाँकने लगतीं। सिर का हीरकमुकुट चमक उठता; कण्ठ का हीरकहार, कान के कुण्डलों की दीप्ति दृष्टि को अवरुद्ध कर देती।

रूप—रूप ऐसा रूप! उस रूप को देखकर स्वयं अपने आप रेखा के नेत्र झुलस-से जाते। गर्विता रूपरेखा के मन में एक अनोखा पुलक व्याप जाता। कमरे की वायु में रूप-यौवन हिलोरें मारता और उस रूप के मेला में रूपरेखा अपने को खो बैठती।

उसके दीर्घ दिनों का सपना आज सफल था। कौमार्य, रूप, यौवन, प्रीति, प्रेम वह अपने प्रियतम को न्योछावर कर चुकी थी। अब केवल प्रतीक्षा थी—प्रीतम के दिये प्रेम को दोनों हाथों से समेट लेने की। आकुल-आग्रह से वह बाँह बढ़ाये बैठी थी।

द्वार खुला। खटपट शब्द करता हुआ कमलेश पहुँचा। उसकी आकृति में परिवर्तन का लेश-मात्र नहीं था। रूपरेखा को देखकर कमलेश जरा विस्मित हुआ न हुआ, पलङ्ग पर बैठ गया।

'तुम यहाँ क्यों बैठी हो रूपरानी ? नहीं-नहीं, क्या नाम है तुम्हारा ? भूल गया ।'—असङ्कोच कमलेश ने कहा ।

प्रश्न सुनकर रूपरेखा—सुगायिका, विदुषी, एम० ए० रूपरेखा विमूढ़-सी रह गई ।

अपनी बातों में मस्त कमलेश कहने लगा—नींद नहीं आई ? तो बैठो । आज किताब न पढ़ूँगा ? बातें ही करूँगा । नाम तुम्हारा भूल गया । अच्छा, तुम मन्त्र-तन्त्र, दान, विवाह आदि अनुष्ठानों पर विश्वास करती हो ?

शान्त स्वर से वह बोली—मेरा नाम रूपरेखा है । हाँ, मैं विश्वास करती हूँ।

'एम० ए० पास किसी स्त्री के मुँह से ऐसे शब्द निकलना हास्यजनक नहीं तो विस्मय की बात जरूर है । मैं इन नकली चीजों को सह नहीं सकता ।'

'नकली ? परन्तु यदि हमें पृथ्वी के जीवन में बसना है तो उसकी सत्ता को भी मानना होगा ।'

'और यदि मैं उसकी सत्ता न माननेवाला होऊँ ?'

विस्मय से उसने पति की ओर देखा और फिर देखा । उत्तर देने के लिए उसका जी चाहने लगा, किन्तु फिर भी वह चुप रह गई। सोहागरात की वह सोहागिन वधू प्रथम मिलन की वेला में पति से बहुत निर्लज्जता कर चुकी थी—चाहे इच्छा से हो या अनिच्छा से । प्रथम मिलन की वेला में ऐसी भावना उसके मन में नहीं थी । पति का आचरण उसे जाने कैसा अद्भुत-सा लगने लगा ।

कमलेश ने पूछा—कहो क्या उत्तर देती हो ?

'फिर ऐसा कहिए कि आप अपनी सत्ता भी नहीं मानते ।'—धीरे से रूपरेखा बोली ।

'मैं तो सत्य का पुजारी हूँ । सब कुछ अपनी आँखों देखे बिना किसी पर विश्वास नहीं करता ।'

'और अपने ऊपर ?'

'कुछ नहीं, किसी पर नहीं । मैं स्वयं यह नहीं जानता कि मैं हूँ कौन ? पहले अपना परिचय पाना चाहता हूँ । यदि मैं अपने को नहीं जानता तो

दूसरे को कैसे जान सकता हूँ। आज ही की बात लो। कुछ तन्त्र मन्त्र, पूजा जाप, नियम कानून कर दिया और मुझसे और तुमसे कह दिया गया कि हम दोनों पति पत्नी हैं। एक दूसरे के अधिकारी हैं और जीवन भर एक दूसरे को प्रेम करते रहेंगे। यह पागलों का प्रलाप नहीं तो क्या है ?'

'प्रलाप ? किन्तु इसी प्रलाप पर इतने लोग जी रहे हैं और हृदय से उसे मानते हैं।'

'क्या मानते हैं ? शायद मानते हों। परन्तु यह भी कौन कह सकता है कि वह मानना उनका भौतिक है, आन्तरिक नहीं ? तुम्हीं से पूछता हूँ, क्या तुम्हीं किसी दिन मुझसे प्रेम कर सकोगी ?'—इस अद्भुत प्रश्न को सुनकर रेखा ने एक बार मुँह उठाया। शायद सङ्कोच किया न किया, फिर दृढ़ स्वर में बोली—क्या इसमें कोई अचम्भे की बात है ? जो स्वाभाविक है वह होगा ही।

'क्या होगा ? कौन-सी बात स्वाभाविक है ?'

'यही प्रेम की।'

'प्रेम की ?'

'हाँ प्रेम की। दुनिया के जल-वायु में यह जो प्रेम की एक लीला-चञ्चल गति है—इसे कौन अस्वीकार कर सकता है ? और दुनिया ही का एक जीव उससे कैसे अछूता रह सकता है ?'

कमलेश उच्च स्वर से हँसा—पहले यह तो कहो कि प्रेम है किस जीव का नाम ?

'यह व्यक्ति कहता क्या है ?'—विराग वितृष्णा से रूपरेखा ने नेत्र फेर लिये।

कमलेश वैसे ही हँसने लगा—चिढ़ती क्यों हो ? प्रेम कोई विचित्र और श्रद्धेय वस्तु नहीं है। वह है कवि की कोरी कल्पना, भावुक की मूर्ख-भावना, बस।

रूपरेखा उठकर खड़ी हो गई। गर्व से बोली—पहले मैं आपका प्रश्न नहीं समझ सकी थी। नहीं, मैं आपसे किसी दिन प्रेम नहीं कर सकूँगी। अच्छा तो···

कमलेश के कान में ये शब्द खटके-से। उसे लगा यह नारी जबरन ही उस पर जय पाना चाहती है। उसने अच्छी तरह रूपरेखा को देखा। सिहर उठा—

बाप रे, यह कैसा ज्वलन्त रूप है ? देर तक वह उस ओर देख भी न सका। जाने एक कैसी अस्वच्छन्दता लगने लगी।

'चलीं ! नाम तो कहती जाओ।'

'आप भूलते हैं, कहा न मैंने, नाम रूपरेखा है।'--वैसे ही गर्व से सिर हिलाकर वह बोली।

'हाँ-हाँ यही है। मैं भूल गया था। तो रूपरेखा, जा कहाँ रही हो ?'—इस नारी से बात करने की इच्छा कमलेश को हो रही थी। उसने उठकर आलमारी खोली। शराब की बोलत निकाली और थोड़ी-सी गिलास में ढालकर पी ली।

यह सब देख-सुनकर रूपरेखा के नेत्र में घृणा घनी हुई।

'नींद आ रही है। दूसरे कमरे में जाकर सोऊँगी।'—रूपरेखा ने कहा।

'जाओ सो रहो। मैं अभी तीन बजे तक पढ़ूँगा।'

चलते-चलते रेखा रुकी—और यों ही शराब पीते रहेंगे ? अपने अनजान में उसने पूछा।

'रात में थोड़ी-सी शराब पी लेता हूँ, जिससे देर तक पढ़ सकूँ। कोई तकलीफ नहीं होती।'

रूपरेखा द्वार तक चली गई और उसे खोलना चाहा। किन्तु द्वार खुल न सका। बाहर से जंजीर चढ़ी हुई थी। संकट में पड़ गई रूपरेखा। वह कमरे से निकल भागना चाहती थी, किन्तु पृथ्वी से छिपाकर।

किसी को पुकारकर, साक्षी मानकर अपने नारीत्व की ऐसी लांछना, ऐसा रूढ़ अपमान दिखलाने में उसका आत्माभिमान सुन्न हो रहा था। अपमान, लज्जा से देह-मन आच्छन्न-सा हो रहा था। सोहागरात की रानी सोहागिन का यह निर्यातन लोकनेत्र से यदि छिप सके तो उसके लिए वह अपना सर्वस्व लुटा देने के लिए प्रस्तुत थी।

कमलेश का ध्यान उस ओर गया। बोला—बाहर से दरवाजा बन्द है ? तो पलंग पर सो रहो, मैं कोच पर बैठा पढ़ता रहूँगा।

रेखा चुपचाप लौटी, कोच पर लेट रही।

'वहाँ नहीं, पलंग पर सो रहो।'

'नहीं।'—दृढ़ स्वर से रूपरेखा ने कहा, यहीं आराम से सो रहूँगी।

रेखा की जब आँख खुली तब बाहर भोर की चिड़ियाँ बोलने लग गई थीं। कमरे में एक हलका प्रकाश था। उस प्रकाश में कमरे की बिजली म्लान हो रही थी। सर्वप्रथम उसकी दृष्टि पलंग पर सुप्त पति पर पड़ी। प्रशस्त हृदय पर एक मोटी पुस्तक पड़ी थी। सुन्दर मुख पर मूँछें तनी हुई थीं। प्रातः की सुहावनी घड़ियों में एक राजकुमार सा लग रहा था उसका पति। मुग्ध आग्रह से वह जाने कब तक खड़ी देखती रही। उसका पति, उसका राजकुँवर। हाँ, उसी का अपना राजकुँवर। उसका? व्यथा-दर्द से रूपरेखा के नेत्र भर आये।

उसका? नहीं नहीं, उसका कोई नहीं। कोई नहीं। उसके कौमार्य की प्रथम आरती कदाचित् इसी तरह सार्थक थी।

वास्तव जो था वह मिथ्या हो गया और मिथ्या हो गया अपना। तो इस मिथ्या ही को तो उसे अपनाना था। क्यों? क्यों, सो वह नहीं जानती। जानती थी इतना कि इसे वह फेंक भी नहीं सकेगी।

गर्विता रूपरेखा लौटकर खड़ी हो गई। आईने की ओर दृष्टि पड़ गई। हजारों रूपरेखा वहाँ व्यङ्ग कौतुक से मुस्करा रही थीं। उसे लगा उस व्यङ्ग की मुस्कान में पिसकर अभी अभी उसकी सत्ता निश्चिह्न हो जायेगी। द्वार खोलकर रेखा भागी।

[ १७ ]

लांछित अभिसार की प्रथम रात्रि में रेखा ने जब आँख खोली तो पाई घर भर के व्यक्ति की उद्वेगपूर्ण, कुतुहल की भरी व्यग्र दृष्टि उसी पर।

धूप अच्छी तरह से फैल चुकी थी। रात भर की जागी रूपरेखा के निद्रालु नेत्र उस तीखे प्रकाश को एकाएक सह न सके। वह आँखें मलती हुई भू-शय्या से उठकर बैठ गई। तब भी उसकी आँखों में नींद भरी हुई थी। पति के कमरे से जब वह निकलकर आई, तब अच्छी तरह से प्रकाश न हो पाया था। चहुँ ओर कमरों के द्वार रुद्ध थे। घर का एक भी प्राणी जागा नहीं था। तब रूपरेखा उसी बड़ी दालान के कोने में बैठ गई और बैठे बैठे

वहीं जमीन पर लेट गई थी। उसके बाद वह गम्भीर निन्द्रा में आच्छन्न हो रही। यह सब उसे कुछ स्मरण नहीं।

सत्यभाभा, घर के दास दासी और रूपरेखा के नैहर की दासी सब उसे घेरकर खड़ी हो गई थीं। सविता भी खिंचती हुई चली आई।

रेखा के विद्यालय की पुरातन दासी जानकी ने लपककर उसे गोद में उठा लिया। बोली—राजदुलारी, तेरी क्यों ऐसी दशा हो रही है? मखमल की सेज जिसे गड़ती थी वह आज जमीन पर कैसे सो रही है? साहब सुनेंगे तो क्या कहेंगे? कहो दीदी बाई, तुम्हें क्या दुःख है?

देख सुनकर गृहिणी अवाक् हो गई।

रूपरेखा सहमकर उठ बैठी। सिर का अवगुण्ठन जरा खींच लिया। फूल के गहनों के बासी फूल उसकी देह से झरकर गिरने लगे। हीरे की चूड़ियाँ, ब्रोकेट की साड़ी सूर्य की सुवर्णकिरण सी चमकने लगी, उस ओर उसने देखा, शायद न देखा। अवहेलना के साथ रेखा धीरे से बोली—कमरे में गरमी थी सो मैं यहाँ सो रही। एक जरा-सी बात पर इस तरह हल्ला मचाने की जरूरत नहीं।

परन्तु इस घुड़की से जानकी दबनेवाली कब थी? विशेषतः यहाँ आकर कल से उसे अनेक असुविधाएँ भोगनी पड़ी हैं। ये लोग बड़े आदमी भले हों, परन्तु इन लोगों का चाल-चलन, आचार-नियम उसे बिलकुल पसन्द नहीं था। उसके मालिक के घर कैसे सभ्य-रीति से वस्त्र पहनते हैं। लोग उन्हें 'साहब' कहते हैं। क्यों न कहें? वह रहते भी हैं साहबों-जैसे। अंग्रेजी ढंग से कितनी अच्छी तरह से रहते हैं। पहली बात, कल मोटर पर से उतरते ही रूपरेखा के पैर से जूते उतार लिये गये। उसके उपरान्त मुँह न ढाँकने से लेकर वस्त्र पहनने तक की तीव्र समालोचना हुई। गृहिणी ने समालोचना न की तो इससे क्या? दूसरी स्त्रियों ने तो की। और जानकी ऐसी मूर्ख नहीं है। क्या वह समझती नहीं है कि बिना मालकिन का इशारा पाये वैसी समालोचना वे नहीं कर सकती थीं? वह समझती है। कैसी असभ्य हैं यहाँ की स्त्रियाँ। सब खाली पैर रहती हैं, छिः-छिः। भोजन—सो भी टेबल पर नहीं,

जमीन पर बैठकर। केवल कमलेश टेबल पर भोजन करता है, सो भी रोज नहीं।

जानकी ने कहा—छिपाओ नहीं। मैं अभी जाकर साहब से यहाँ की सब बातें कहती हूँ। कल रात जमाई-बाबू से जरूर कोई बात हो गई होगी। यहाँ पर सब एक-से तो हैं।

'नौकरानी हो, नौकरानी सी रहो। मेरे घर की बहू है, उसे मैं आदर से लाई हूँ, उसकी बातें मैं समझूँगी और वह समझेगी। तुम बोलनेवाली कौन होती हो ?'—गृहिणी ने गरजकर कहा।

'क्यों नहीं माजी ? साहब ने मुझसे कह दिया है—मेरी रूप को देखती रहना जानकी। इसे जरा भी तकलीफ न होने पाये।'

'यदि ऐसा था तो लड़की को घर ही में रखते।'—परिहास से गृहिणी ने कहा।

घर की पुरानी दासियों ने ऐसे अवसर को न खोया। वे सब रूपरेखा को घेरकर खड़ी हो गईं। कहने लगीं—दुलहिन, तुम्हारे बाप भी साथ हो लेते तो अच्छा था। चले क्यों न आये यहाँ ? हमारे मालिक के घर गज भर जगह की कमी नहीं है। अब मोटर भेजकर उन्हें भी बुला लो।

रूपरेखा ने बड़ी-बड़ी आँखों को खोलकर ताच्छल्य से उन सब को देखा, वैसे ही बोली—जाओ, तुम सब अपना अपना काम देखो। और तुम जानकी, घर वापस जा सकती हो। मुझे यहाँ किसी की जरूरत न पड़ेगी। फिर सास की ओर मुँह फेरकर कहा—मैंने यहाँ का बाथरूम नहीं देखा अम्मा, जरा दिखला दीजिए।

यद्यपि वचन यथेष्ट विनय से कहे गये थे, तथापि जाने क्यों सत्यभामा सन्तुष्ट न हो सकीं।

ज्वलन्त शिखा-सी रूपवती वधू का रूप, चालचलन, बोलना उन्हें खटकने-सा लगा। कहीं पर एक भारी भूल सी उन्हें लग रही थी। नववधू का ऐसा असंकोच बर्ताव उन्हें अद्भुत लग रहा था।

'सुरसती, ले जा बिटिया, दुलहिन को घर मकान दिखला दे। और कपड़े वपड़े बदलवा दे।'—सहमकर गृहिणी ने कहा।

भीरु पक्षी सी सविता गृहिणी का आँचल पकड़कर खड़ी हो गई। उस रूपवती नारी के सान्निध्य से वह दूर भागना चाह रही थी, डर सा लग रहा था।

उसे देखकर सत्यभामा मधुर हँसीं—दुलहिन का हाथ पकड़कर लेती जाओ।

परन्तु किसी का हाथ पकड़ने की जरूरत सविता को न पड़ी। रूपरेखा आगे आगे चल पड़ी—मानों पथप्रदर्शक वही हो।

सविता उसके पीछे ऐसी चली कि अभी अभी गौने से आई बहू हो। सविता का जी धड़क रहा था। हाथ पैर ठण्डे पड़ रहे थे। यदि उसका वश चलता तो शायद वह भाग जाती।

'खाली पैर कहाँ चलीं दीदी बाई ? पैर में छाले पड़ जायेंगे। कभी ऐसी चली भी हो ?'—जानकी ने रूखे स्वर से आवाज लगाई।

यह सब देखकर गृहिणी सर पर हाथ धरे बैठ गईं। आत्मीय अनात्मीय मुँह फेरकर हँसने लगे।

चलते चलते रेखा ने कहा—जब जरूरत पड़ेगी, तब मैं स्वयं पहन लूँगी। तुम घबराओ मत जानकी।

जाने कितने कमरों, दालानों को पार करती रूपरेखा एक कमरे में हठात् लौटकर खड़ी हो गई, पूछा—यहाँ का बाथ रूम कितनी दूर पर है ?

'तुम तो उसे पीछे छोड़ आईं।'

'फिर आपने बतला क्यों न दिया ?'—रूपरेखा विस्मित हो रही थी।

'मैं क्या करती। तुम तो चली ही आईं बहन।'

रुष्ट होने जाकर भी रूपरेखा मुस्करा पड़ी—मैं यहाँ नई आई हूँ और आपका यह घर ठहरा। मैं क्या जानूँ कि कहाँ बाथरूम है ?'

'मेरा घर ?'—मानों चिन्तित भाव से सविता ने कहा—मेरा घर तो बिक गया।

'मैं समझी नहीं, आप क्या कह रही हैं ?'

'कहा न कि घर बिक गया।'—सविता का भय, सङ्कोच धीरे धीरे हट रहा था। दूर से रूपरेखा जैसी तीक्ष्ण ग्रीष्म की दोपहरी सी लग रही थी, निकट से उसने उसे वैसा तो पाया नहीं, वरन् पाया एक अपनी-सी मिलती-जुलती नारी को।

'और यह घर ?'

'यह घर ?'—अब सविता विचार में पड़ी। वह कहे क्या ? यह घर भी तो अब उसका पराया नहीं रहा न। सोच-विचारकर वह बोली—यह भी मेरा अपना है।

ऐसी स्थिति में भी रूपरेखा हँसे बिना न रह सकी। कहा—सच मानिए, आप एक पहेली सी लगती हैं।

'सो क्यों ? तुमने पूछा—यह घर किसका है ? मैंने कहा—यह भी मेरा है। क्योंकि यह भी मेरी मा का है। अब कहो तुम, इसमें बूझने की बात क्या है ?' सविता चिढ़ रही थी।

'तुम तो चिढ़ती हो।'

'मैं ? नहीं रेखा दीदी।' उसने रेखा का हाथ पकड़ लिया—यदि मैं तुम्हें दीदी कहूँ ?

सविता उस जाति की नारी थी, जो बिना विचारे पराये को अपना समझ लेती है और जिस परिमाण में वह किसी पर घृणा करती है, ठीक उसी परिमाण में उस पर प्रेम करते भी देर नहीं लगती।

विस्मय से रूपरेखा सविता को निहारती हुई बोली—यदि आप ऐसा करें तो मैं बहुत सुखी होऊँगी। मैं आप को क्या कहूँ ?

यद्यपि रूपरेखा की मार्जित रुचि के साथ इस मूर्ख, अशिक्षित लड़की की जरा भी समता नहीं थी, फिर भी सविता में कोई ऐसी वस्तु थी, जिसकी अवहेलना रूपरेखा नहीं कर सक रही थी।

यदि उस अशिक्षिता और कुरुचि के भीतर की सरल सहृदयता ने रूपरेखा के मन पर जरा सम्भ्रम जगा दिया हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

'अच्छा तो रेखा दीदी, तुम मुझे सविता कहा करो। तुम मुझसे बड़ी हो या छोटी?'

'तुमसे जरूर बड़ी हूँ। और जब सविता कहना है, तब आप कहना भी नहीं सोहता।'

सविता खिलखिला पड़ी—अब तक तुम मुझे आप कह रही थीं क्या? मैंने उधर ध्यान न दिया। अत्यन्त कौतुक से रूपरेखा उसे देखने लगी। देर के बाद द्विधा-जड़ित स्वर से पूछा—सच कहती हूँ सविता, तुम्हारी बातें मुझे अद्भुत सी लगती हैं।

'मेरी बातें? ऐसा क्यों रेखा दीदी?'

'सो मैं क्या जानूँ? अभी कह रही थी—यह घर तुम्हारा नहीं है। फिर बोली—यह तुम्हारा है।'

'ठीक कहा मैंने। पहले यह घर मेरा नहीं था। जब यहाँ आकर रहने लगी, तो मेरा हो गया।'

'यहाँ आकर रहने लगी? तो क्या मेरी सास तुम्हारी मा नहीं हैं?'

'मा नहीं तो कौन है?'—सविता विस्मित थी कि उस जैसी एक साधारण सी लड़की की बातें यह एम० ए० विदुषी समझ क्यों न सक रही है?

'फिर वैसी ही बातें करने लगीं! पहले के घर में जब तुम रहीं, तब यह अम्मा कहाँ थीं?'

'मैं क्या जानूँ? रही होंगी इसी घर में।' घबराकर रूपरेखा उसका मुँह निहारने लगी। उसे अपनी इस ननद के उन्मादी होने का सन्देह होने लगा। वह सविता को कमलेश की बहन समझ रही थी।

'अब तो साफ साफ समझ गईं न रेखा दीदी?'

'नहीं। पहले की मा कहाँ हैं अब?'

प्रश्न सुनकर सविता ने खिड़की से झाँककर आकाश के प्रति देखा। बोली—अभी वे न दीखेंगी। रात में दिखला दूँगी।

इस बार रूपरेखा निस्सन्देह हो गई—हाँ, अवश्य यह पागल है। सहसा रूपरेखा के मुँह से निकल पड़ा।—भाई, बहन दोनों एक से हैं।

बड़ी-बड़ी आँखें उठाकर सविता ने रेखा की आँखों में गड़ा सी दीं—'किसकी बातें कह रही हो दीदी ?'

'कुछ नहीं। कहती थी सविता, तुम मुझे भाभी क्यों न कहो ?'

सविता के कुछ कहने से पहले कमरे में सत्यभामा पहुँच गईं—अब तक नहाना धोना कुछ न हुआ ? खड़ी बातें कर रही हो ?

सविता सत्यभामा के निकट चली गई—मेरी बातें रेखा दीदी समझती नहीं हैं अम्मा।

गृहणी समझीं उल्टा, वह बोलीं—गृहस्थ की लड़कियाँ अँग्रेजी कैसे बोलें ? हम कृस्तान थोड़े ही हैं। हमारे घर की लड़कियाँ सीधी सादी हैं। इसमें न समझने की कौन सी बात है ?

अपमान, खेद से रूपरेखा का चेहरा विवर्ण हो गया।

'लो तुम भी नहीं समझीं, रेखा दीदी बड़ी अच्छी हैं अम्मा। कसूर तो मेरा है। मैं ही तो इन्हें समझा नहीं सक रही थी।'—जल्दी से सविता ने कहा।

'कौन सी बात सतिया ?'

'यही—मा वाली।'

'मा वाली कैसी री बिटिया ?'

'तुम मेरी मा हो न अम्मा ?'

'नहीं, तेरी मा नहीं तो क्या भाड़े से कोई मा आ जायेगी ?'

बहुत पहले ही गृहिणी ने सविता को अपनी कन्या कहकर प्रचारित कर दिया था। सत्य जाननेवाले व्यङ्ग से पीछे हँसते और अनजान व्यक्ति विश्वास कर लेते।

गृहिणी फिर बोलीं—यह तुम्हारी छोटी ननद है दुलहिन। अच्छा अब देर मत करो। बारह बज रहे हैं। लड़की भी वैसी है। अब चल सुरसती, तेरे बाल-वाल खोलूँ। नहाने खाने की याद काहे को होगी। मेरा तो जी आफत में फँसा है।

दासी रूपरेखा को स्नान कराने ले गई और सत्यभामा के पीछे सविता चल पड़ी।

[ १८ ]

इस नूतन जीवन में आकर पहले तो रूपरेखा विमूढ़ सी हो गई। दीर्घ दिनों की शिक्षा, रहन सहन, अभ्यास को वह एक दम बदलती भी कैसे? परन्तु धीरे धीरे उसकी आदत पड़ गई।

यदि इस नववसन्त के प्रातःकाल में उसके लिए स्नेह का विन्दु, प्रेम का एक छोटा कण भी नहीं है, तो न रहे। फिर वह भी भिखारिन नहीं है। है वह राजरानी। आज्ञावाहिनी दासी वनने के लिए उसका जन्म नहीं हुआ है। आज्ञा देने के लिए वह धरती पर आई है। अपनी सत्ता, अपना मान सम्मान सँभाले वह पृथ्वी पर राज करेगी। नहीं है स्नेह, प्रेम का विन्दु यदि वाष्प होकर उड़ गया है, तो जाने दो। किन्तु उसकी शक्ति तो उसके पास है न? बस उतना उसके लिए यथेष्ट है।

आत्मीय कुटुम्ब से कमलेश का घर भरा हुआ था। विवाह में दूर दूर के कुटुम्बी आये थे। भोजन आदि में दोपहर दो की घण्टी बोल गई। भोजन से निश्चिन्त होकर स्त्रियाँ ताश-पाशे में जुटी हुई थीं। कोई थपकियाँ दे देकर बच्चे को सुलाने के व्यर्थ प्रयास में लगी थीं। पानदान घेरकर कितनी बैठ गईं। बड़ी बुढ़ियों का जमाव दूसरे कोठे पर था। वे सब दरी पर पड़ी सबकी बहू बेटियों की समालोचना में लगी थीं। कमलेश लाइब्रेरी में चला गया था। मर्द बाहर की बैठक में बैठे हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे। सत्यभामा अपने कमरे में पड़ी निद्रा की फिकर कर रही थीं। जानकी प्रभु के घर वापस जा चुकी थी।

क्लान्त सविता अपने कमरे में पहुँची। जरा-सा लेट लेने के लिए वह शय्या की ओर बढ़ी कि रूपरेखा को देखकर खड़ी हो गई—आओ रेखा दीदी।

'तुम इस कमरे में रहती हो?'

'हाँ, यह मेरा कमरा है।'

'परन्तु तुमने अभी तक मेरा कमरा नहीं दिखलाया।'

'कल रात जहाँ रही वही तुम्हारा कमरा है।'

'वहाँ?'—जरा इतस्ततः कर रेखा ने कहा—वे रात भर बत्ती जलाकर

पढ़ते हैं। मुझे नींद नहीं आती। अकेले सोने की मेरी आदत है। एक कमरा चाहिए, जहाँ कि मैं अपना सामान रख सकूँ, लिख पढ़ सकूँ और आराम से सो सकूँ।'

'कमरे तो बहुत हैं, एक नहीं—तुम दो ले लो।'

यद्यपि इतना कह दिया सविता ने, किन्तु वह विस्मित हो रही थी, विचार रही थी—कैसी है यह दुर्भाग्यवती नारी! दुर्भागिन नहीं तो क्या? जिसे उन जैसे आदमी का सङ्ग पसन्द नहीं आये वह दुर्भागिनी नहीं तो क्या है? उसे इस नारी पर दया उमड़ आई। नित नई नई परिस्थियों में पिसकर सविता अपने दुःख को, अपनी सत्ता तक को खो चुकी थी।

'कमरा दिखला दो।'

उस उतावली को देखकर सविता असमंजस में पड़ गई।

'क्या विचार रही हो?'—रूपरेखा व्यग्र थी।

'विचार? कुछ नहीं। ठहरो, मा से पूछ लूँ।'

'क्यों तुम नहीं दे सकती हो?'

'आखिर वह देखेंगी ही। उनसे पूछे विना इस घर में काम नहीं होता। तुम वहीं सोया करो न दीदी, वही तो तुम्हारा अपना है।'

'नहीं-नहीं।'

उस आर्त स्वर को सुनकर सविता सिहर उठी। वह भोली थी, सरल थी; किन्तु फिर भी थी नारी ही। नारी की व्यथा—अभाव को पहचानती थी।

उधर रूपरेखा अपने आप पर क्रुद्ध हो रही थी—यह कैसा लड़कपन कर रही है वह?

'तो जल्दी उनसे पूछ लो।'—संयत कंठ से रूपरेखा ने कहा।

सविता के मुँह से गृहिणी ने जब वधू की अद्भुत माँग सुनी तो क्रुद्ध-विस्मय से उठकर बैठ गईं। कल से लेकर आज तक उन्हें इसी वधू के लिए आत्मीय-कुटुम्ब के सामने कैसी लज्जा में पड़ना पड़ रहा था सो वही जानती हैं। एक दिन तो वह भी दुलहिन बनकर इस घर में आई थीं। किन्तु ऐसा अन्धेर तो उनने न किया। वह मानती हैं कि बहू लिखी-पढ़ी है और

वह हैं अपढ़। फिर इससे क्या ? अभी पड़ोस में धीरेन्द्र की वहू आई है, वह भी बी० ए० पास है। गाना, वजाना, सीना-पिरोना सब जानती है। वड़े आदमी की लड़की है। परन्तु घर की इज्जत आवरू बचारे कैसी लक्ष्मी-सी रहती है। घर सँभाल लिया। दूर क्यों जाओ। सबजज की पुत्रबधू को देखो न। वह है एम० ए० पास। उस पर लेडी डाक्टर है। उसे देखकर जी संतोष से भर उठता है। पार्टियों में जाती है, सब से बातें करती है। और इधर घर में खाली पैर रहती है। सास की वहू वनी घर के धन्धे करती है। बच्चों को कितनी अच्छी तरह पालती है। और यह कुलक्षणी ? यह तो पति से, सास से विद्रोह करना चाहती है। घरभर के मनुष्यों के सामने उनके मुँह पर कालिख पोतना चाहती है। अलग सोयेगी ? अभी से ऐसा स्वतन्त्र विचार ? अभी से सब अलग-अलग चाहिए ? ठहरो, मैं सब बदमाशी निकाले देती हूँ। यों विचारती गृहिणी क्रोध से उठीं और बाहर की ओर चलीं।

'कहाँ जाती हो अम्मा ?'—सविता ने पूछा।

'चुप रह। दिन भर अम्मा-अम्मा। जाती हूँ लायब्रेरी में कमला के पास।'

'वहाँ जाकर क्या करोगी ? चलकर कमरा क्यों नहीं दिखलातीं ?'

'हट जा सुरसती।'

झटिका की तरह सत्यभामा ने लायब्रेरी में प्रवेश किया।

राशिकृत उपहार टेबल पर रखकर पृथीश तब सिर का पसीना रूमाल से पोंछ रहा था। और कमलेश कुरसी पर बैठा मुसकराकर पूछ रहा था—इतने सामान किसके लिए लाये हो पृथीश ? बैठ जाओ। पसीने में डूब रहे हो।

सत्यभामा की उस धधकती हुई अग्नि-सी मूर्ति को देखकर पृथीश और कमलेश के मुँह की बात मुँह ही में समा गई।

उत्कंठा से कमलेश और पृथीश ने प्रायः साथ ही साथ पूछा—क्या बात है मा ?

'बात क्या है, मेरा सिर। एसी कुलक्षणी को घर लाई हूँ कि घर बाहर मुँह दिखलाना मुश्किल हो रहा है।

'विदुषी बहू है न मा।'—कमलेश हँस रहा था।

'चुप रह कमला। मुहल्ले में लिखी पढ़ी लड़कियाँ बहुत हैं। उसी ने कुछ पास नहीं किया है। आज-कल सब लोग लिखी-पढ़ी बहूलाते हैं।'

'ठीक है मा, लिखी-पढ़ी लड़की जैसी गृहस्थी सँभालती हैं, बच्चों को पालती हैं वैसी अपढ़ लड़की नहीं सँभाल सकती। और फिर आज दिन की परिस्थिति ही ऐसी है कि पढ़े-लिखे बिना काम चलता नहीं। तो भाभी कहाँ हैं मा? मैंने उन्हें अब तक देखा नहीं। आज कहा, चलो भाभी के दर्शन करूँ।'—पृथीश ने कहा।

'देखना, देखते ही समझ जाओगे कि वह कैसी भभकती हुई आग है। कमलेश के कमरे में उसे नींद नहीं आती। अलग कमरा चाहिए।'—गृहीणी ने कहा।

पृथीश चुप रहा।

'बस, इस जरा सी बात के लिए तुम अस्थिर हो रही हो? उसने ठीक कहा है।'—कमलेश ने कहा।

'ठीक कहा उसने?'

'जरूर। एक कमरे में न उसे नींद आती, न मुझे। बहू तुम्हारी है। जानो तुम और वह। मैंने तो तुम्हारे आज्ञानुसार शादी कर तुमको बहू ला दी।'

'क्या तुमने उसे अपने कमरे में सोने को मना कर दिया है?'—मा ने उतावली से पूछा।

कमलेश हँसने लगा।

'यह कैसी बात है कमला।'—माता गम्भीर थीं।

'छोटी और सीधी तो है मा। तुमसे मैं पहले कह चुका था।'

'पहले कहा था? वह यही कहा था कि शादी मैं तुम्हारे मन से कर रहा हूँ। बहू ला दूँगा। समझना तुम। यही कहा था न?'

'बिलकुल ठीक है।'

'क्या निर्लज्ज-सा हँसता है? तू उससे बोलेगा नहीं? अलग कमरे में रहेगा? और…'

बात काटकर कमलेश ने कहा—बोलूँगा क्यों नहीं? उससे मेरा बैर थोड़े ही है।

'तो दूसरे कमरे में उसे सोने को क्यों कह दिया ?'

'मैंने किसी से ऐसा करने के लिए नहीं कहा है मा।'

'मुँह से न भी कहा हो तो क्या हुआ। तुमने उससे वैसा कुछ बर्ताव जरूर किया होगा। ब्याह के पहले तूने जो कुछ कहा था, उसका मतलब यह नहीं निकलता कि उससे वैर ही करेगा।'

'ऐसा तुमसे किसने कहा मा ?'

'तेरा आचरण ही गवाही देता है। ऐसी सुन्दर परी-सी बहू, लिखी-पढ़ी, और तू उदास अलग अलग रहेगा उससे। यदि तू उससे अच्छा बर्ताव न करेगा, तो वह रहेगी किसकी होकर ?'

'तुम्हारी होकर। नहीं, वह रहेगी अपनी होकर ?'

'जो जी में आये सो करो। बहू मेरी ही होकर रहेगी। और कहती हूँ कमला, कि एक दिन तुझे भी उसका होकर रहना पड़ेगा। छिः कमला, अब वह सब पागलपन छोड़ दो। अब तुम पति हो, अपना कर्तव्य करो।'

'कर्तव्य मेरा किसी पर कुछ नहीं है। और न किसी से मेरा कुछ सम्बन्ध है। इस बात को वास्तविक मानता हूँ कि तुम मुझे दुनिया में लाई हो, बस, मेरा कर्तव्य है, सम्बन्ध है मेरी माता से।'

ऐसे मीठे शब्द भी सत्यभामा को अच्छे न लगे। उदासी पुत्र को वह गृहस्थ करना चाहती थीं। पुत्र को गृहस्थी में बाँधने के लिए अनुपम सुन्दरी वधू खोज लाई थीं—उसे व्यर्थ जाते देखकर उनका मन उदास हो गया। भीतर से उन्हें किसी ने पुकारा। वह उदास मुख भीतर चली गईं।

विषण्ण कण्ठ से पृथीश ने कहा—निर्लज्ज हँसी की भी सीमा रहती है कमलेश।

'परन्तु भाई, मैं तो सलज्ज हँसी हँसना नहीं जानता।'

'एक स्त्री को बलिवेदी पर चढ़ाकर तुम्हें निर्लज्ज हँसी हँसने का भी तो अधिकार आज नहीं है कमलेश।'

'शायद न हो। किन्तु मेरी दृष्टि में नकली को प्रश्रय देने से...'

'भूला नहीं हूँ कमलेश। जानता हूँ तुम प्रेम को नकली समझते हो। ठीक

ै। अपना अपना विचार है। किन्तु पूछता हूँ एक निर्दोष स्त्री को विवाह कर उसका जीवन व्यर्थ क्यों कर दिया ?'

कमलेश जोर से हँसा—किस अन्धी कल्पना के पीछे दौड़ते फिरते हो ? किसी का जीवन मैंने व्यर्थ नहीं किया। मेरे विचार सुनकर रूपरेखा जरा भी मलिन नहीं हुई। केवल इतना ही नहीं, वरन् उसने साफ कह दिया—तुमसे मैं प्रेम नहीं कर सकती।

'उन्होंने कहा ? याने भाभी ने ?'—पृथीश ने चिल्लाकर पूछा।

'हाँ, उन्हीं ने कहा।'

'उसके बाद ?'—पृथीश मन्त्रमुग्ध-सा पूछने लगा—उसके बाद—उसके बाद ?

कमलेश जरा विस्मित हुआ, कहा—उसके बाद वह निकलकर चली गई।

'सच कहते हो ?'

'झूठ मैं कब कहता हूँ।'

'याने उन्होंने कहा—अपने कान से तुमने सुना ?'

'मैं बहरा कभी नहीं रहा, न अब हूँ।'

[ १९ ]

गृह निस्तब्ध था। उस नीरवता में घड़ी की टिकटिक जोर से सुन पड़ने लगी। उस नीरवता के प्रति यदि घड़ी को दया आ गई हो तो वही जाने, किन्तु मित्रद्वय को नीरवता का विचार तक नहीं था। कमलेश की आँखें पुस्तक में आबद्ध थीं। और पृथीश अपनी चिन्ता में मग्न था।

धीरे से परदा हिला। उसके बाद नौकर के हाथ में जलपान का बड़ा सा टेबल दीख पड़ा। पीछे-पीछे सविता कमरे में पहुँची।

'फिर खाना पड़ेगा ?'—स्मित हास्य से कमलेश ने कहा।

'जलपान का समय हो गया न।'

'परन्तु अभी तो दोपहर के भोजन की मछलियाँ भी पेट में चल-फिर रही हैं। न मानो तो देख लो।'—अपने परिहास में मस्त कमलेश अकेला ही हँसने लगा।

जरा-सा मुसकराकर सविता ने ट्रे नौकर के हाथ से ले ली। पृथीश जरा सीधा होकर बैठा।

'इन्हें भूख नहीं है, किन्तु तुम्हें तो भूख है न पृथीश भैया ? तुम्हें खाते देखकर इन्हें भी भूख लग आयेगी।'

पृथीश उठकर खड़ा हो गया—आज क्षमा करो सविता। जल्दी है, कहता हुआ वह द्वार की ओर बढ़ा।

'ठहरो—ठहरो। ये उपहार किसके लिए लाये थे ?'—कमलेश ने आवाज लगाई।

लौटकर पृथीश टेबल के निकट खड़ा हो गया—भाभी को दे देना ;

'मेरे देने से वह क्यों लेंगी ?'

'न लेंगी ?'

'शायद नहीं।'

पृथीश विचार में पड़ गया।

तब तक सविता ने दो प्लेटों में जल-पान सजाकर उन दोनों के सामने रख दिया। नौकर चाय लेने जा चुका था।

'तुम लोग खाओ, मैं रेखा दीदी को अभी लिवाये लाती हूँ।'—चलते-चलते सविता ने कहा।

मित्रद्वय चुपचाप जलपान कर रहे थे। प्लेटें प्रायः खाली थीं। यदि पीछे से हँसने की आवाज न आती तो शायद वे अन्तिम रसगुल्ला तक मुँह में भर लेते।

पृथीश ने घूमकर देखा। इसके बाद उसकी दृष्टि वैसी ही रह गई—अचल, स्पन्दन-हीन। उसे लगा—उस रूप की ज्वलन्त शिखा में वह अभी-अभी पतंग की नाईं भस्म हो जायेगा। किन्तु फिर भी वहाँ से दृष्टि न फेर सका। कमलेश की दशा भी प्रायः वैसी ही थी।

'ये लोग तुम्हें बैठने को भी न कहेंगे रेखा दीदी। आओ, यहाँ पर बैठ जाओ।'

रूपरेखा और सविता एक कोच पर बैठ गईं। कमलेश को लगा, सूर्य के प्रकाश में चाँद की शान्त श्री ढँक-सी गई। उसने आँखें फेर लीं।

'सामने बैठी है रूपरेखा, कुछ उपहार देने थे न पृथीश ?'—कमलेश ने कहा।

पृथीश सहमा—आपके पति का मैं मित्र हूँ। पृथीश को आप अपना देवर समझिए। तो भाभी आपके लिए कुछ भेंट लाया हूँ।

'और देवर का दिया हुआ तिनका भी भाभी के पास अनमोल है। ये तो बहुत-सी चीजें हैं ? वक्स में क्या है ?'—परम आत्मीय की नाईं रेखा ने कहा।

'हारमोनियम है भाभी। सुना था आप बहुत अच्छा गाती हैं।'

इस सहज वार्तालाप के भीतर कमलेश भी अबाध रूप से हिल-मिल गया।

'और उस गाने को सुनने के लिए हम दोनों मित्र अधीर हो रहे हैं।'—कमलेश ने कहा।

रूपरेखा धीरे से हँसी—यदि आप सुनना चाहते हैं, तो जो कुछ मैं जानती हूँ, सुनाने के लिए तैयार हूँ।

'फिर देर किस बात की है ?'—कमलेश सन्तुष्ट हो गया था।

'आज माफ करें।'

सविता ने सबके मुँह की हँसी को देखा। उसके मुँह की हँसी बुझ-सी गई। सर नीचा किये वह मूर्ति की भाँति बैठी की बैठी रह गई।

अन्त तक उन दोनों के अनुरोध को रूपरेखा टाल न सकी। नया बाजा सामने आ गया। उस बाजे से गला मिलाकर रूपरेखा गाने लगी। न ठुमरी गाई, न ठप्पा, गजलें भी नहीं। तल्लीन हो स्वशास्त्र ख्याल, जय-जयवन्ती राग गाने लगी वह। चित्र की भाँति तीनों व्यक्ति स्तब्ध रह गये। यद्यपि सविता और कमलेश राग-रागिनी कुछ समझते नहीं थे, फिर भी उन्हें लगा—ऐसा पहले कभी उन्होंने सुना नहीं।

गान बन्द हुआ।

परितृप्त स्वर से कमलेश ने कहा—सच कहता हूँ रूपरेखा, पहले कभी मैंने ऐसा सुना नहीं।

उस स्वर को सुनकर सविता का जी जाने कैसा कर उठा। आँखों में पानी

छलछलाने लगा। नहीं, नहीं, वह और देख नहीं सकती थी, सुन नहीं सकती थी।

अपने पीतम को सविता ने पराया होने की सजा अपने हाथों दी थी और मौर उसे अपने हाथों बाँधा था—यह भी मिथ्या नहीं है। किन्तु उस सत्य को तो कभी उसने अपनी खुली आँखों के सामने देखना न चाहा था। जिस बात की कल्पना तक कभी मन में उठ न पाती, उसे वह सहती कैसे? देखती कैसे?

उपकथा की कन्या-सी वह भी त्याग कर सकती थी। वरन् उसने किया भी था; किन्तु उस त्याग के नग्न रूप को वह देख नहीं सकती थी—नहीं-नहीं। भीत चिड़िया-सी उसने आँखें बन्द कर लीं और उठकर भागी। किसी ने उस ओर देखा, न देखा।

विस्मयमुग्ध पृथीश उठा और एकदम रूपरेखा के निकट जाकर खड़ा हो गया। वैसे ही पूछा—भाभी, इस झंकार को तुमने कहाँ पाया? इसी को तो मैं ढूँढ़ता फिर रहा हूँ। इसी उबलते हुए जीवन की तो हमारे देश में जरूरत है।

रूपरेखा का स्वर तृप्ति से भर उठा—आप बढ़ा रहे हैं पृथीश बाबू। इससे अधिक और कुछ वह कह न सकी। सभा, विवाह, पार्टियों में उसने अपने रूप, गुण, संगीत की अनेक प्रशंसा, स्तुति सुनी थी। और उन सब को सुनते-सुनते उसे एक अभ्यास-सा हो गया था। उस प्रशंसा में ऐसी मादकता न रहती थी, न ऐसा आनन्द ही मिलता था।

आज जब चहुँओर से उसकी हार ही हार हो रही थी, तब ऐसे एक दिन में डूबती हुई नौका को मानों किसी जहाज का बड़ा-सा सहारा मिल गया। पृथीश की प्रशंसा उसके लिए ठीक वैसी ही थी। पहले अपनी प्रशंसा में उसने ऐसी मादकता, ऐसा अपनापन, ऐसी मिठास न पाई थी। विजित की खुशी से उसका जी भर उठा।

द्वार खुला। गृहिणी बीच में आकर खड़ी हो गई—तुम्हें आये अभी दो दिन भी नहीं हुए दुलहिन। यह कमरा बाहर का है; मर्दों के लिए है, घर की

बहू बेटियों के लिए नहीं। गाने-बजाने के लिए जिन्दगी पड़ी है। बाप के घर चाहे कुछ भी किया हो, किन्तु यहाँ यह सब न चल सकेगा। यह कोई बाजार नहीं है। गृहस्थ का घर है।

'गाने के लिए मैंने कहा था। भाभी राजी नहीं हो रही थीं।'—शीघ्रता से पृथीश ने कहा।

पलभर में रूपरेखा का मुँह अपमान से लाल पड़ गया। उत्तर देने के लिए कंठ में शब्द धूम मचाने लगे; किन्तु फिर भी वह चुप रह गई।

'ऐसा तूने क्यों कहा पृथ्वी ? सब लोग बहू की हँसी उड़ा रहे हैं। जैसा कमला—वैसा तू। अक्ल बिलकुल नहीं है।'

'मा, देखो पृथीश तुम्हारी बहू के लिए क्या क्या लाया है।'

'बहुत लाया है। तो कल अपनी भाभी का बनाया भोजन भी यहाँ कर लेना। क्यों दुलहिन, कुछ बनाना चुनाना भी मा-बाप ने सिखलाया या खाली पढ़ाया ही ?'

'यों ही कुछ बना लेती हूँ।'—रूपरेखा धीरे से बोली।

'बना लेती हो ? इतना अच्छा है।'—गृहिणी कुछ प्रसन्न हुई—आओ मेरे साथ।

रेखा जाते-जाते रुकी। पृथीश को उसने नमस्कार किया, फिर चल दी।

राशिकृत विस्मय नेत्रों में लिये गृहिणी ने पृथीश से पूछा—यह बहू मर्दों जैसा हाथ क्यों जोड़ती है ?

'यह सभ्य नियम है अम्मा।'

'आग लगे ऐसे नियम पर।'—कहती हुई गृहिणी बहू के पीछे-पीछे भीतर चली गई।

[ २० ]

सविता—भोर की चिड़िया-सी, श्वेत-चन्दन-तिलक-सी, काली रात के जुगनू-सी, मीठी, मोहक, शान्त-श्री सविता व्यग्र उत्कंठा से विवाह की इस दूसरी तैयारी को देख सुन रही थी।

कमलेश के घर उत्सव की शहनाई बन्द होते होते दूसरी शहनाई बजने की तैयारी होने लग गई थी।

इस बार था घर की लड़की सविता का विवाह। सोने से लेकर हीरे मोती आदि सब प्रकार के अलङ्कार बहुत पहले से गृहिणी ने उसके लिए बनवाकर रखे थे। रहे वस्त्र सो अब खरीदे जा रहे थे। सीधा सामान इकट्ठा किया जा रहा था।

भाराक्रान्त मन से सविता कमरे में बैठी थी।

'भाभी।'—द्वार के बाहर से पृथ्वीश ने पुकारा। उस स्वर ने सविता के हृदय पर एक बोझ-सा रख दिया। किन्तु उस पुकार की प्रतिक्रिया दूसरे स्थान में ठीक उलटी हुई। रूपरेखा का मन आह्लाद से भर गया। इस घर में? हाँ—इस घर में वही तो पुकार रहा है उसका अपना। एकान्त भाव से उसी का अपना।

उस पहले परिचय के प्रथम मुहूर्त में इस व्यक्ति को गाना सुनाकर, हाथ का बनाया भोजन कराकर, तर्क-वितर्क कर पा लिया था बदले में उसने एकाधिकार का छोटा किन्तु सुदृढ़ स्थान और प्रेम, भक्ति आदर से सनी छोटी पुकार—भाभी। वही तो था उसके विवाहित जीवन का चरम लाभ और परम सार्थकता।

जीवन का मध्याह्न ; न सन्ध्या न रात्रि, उसके जीवन के इस प्रातःकाल की उज्ज्वल वेला में क्या इतना भी कम लाभ था?

'भाभी।'—पृथ्वीश ने फिर पुकारा।

अधीर चरणों से रूपरेखा दूसरे कमरे से निकल आई—आइए भाई साहब।

'सब लोग सो रहे हैं क्या?'

'आराम करते होंगे। चलिए सविता बहन के कमरे में बैठें।'

भीतर से सविता सब कुछ सुन रही थी। उठकर बैठ गई। वस्त्र ठीक कर लिये। पृथ्वीश कमरे में पहुँचा। पीछे आई रूपरेखा। सविता से बातें करते पृथ्वीश को संकोच सा लग रहा था। दो दिन पीछे सविता उसकी दुलहिन बन जायेगी।

उसके साथ पहले-सी असंकोच बातचीत करते पृथीश को बड़ी शर्म लग रही थी ; किन्तु सविता के व्यवहार को देखकर रूपरेखा को भी विस्मित होना पड़ रहा था। 'वहाँ क्यों बैठते हो पृथीश भैया, यहाँ मेरे पास बैठो न। ग्रेटवार की बड़ी अच्छी कहानी सुनाते हैं यह। सुनी है तुमने दीदी ?'—सविता ने असंकोच पृथीश को अपने निकट बैठा लिया।

'नहीं सुनी। आप ग्रेटवार में गये थे पृथीश बाबू ?'

'गया था भाभी।'

रूपरेखा को यह बात बड़ी अच्छी लगी। ऐसा एक व्यक्ति उसका देवर है, जो कि महायुद्ध में गया था, जिसकी नसों में युद्ध की वार्ता छिपी पड़ी है। और वही है उसका अपना देवर।

वह नारी है और पृथ्वी की एक जीव। लिखी पढ़ी है। गाना बजाना, सीना पिरोना, घर गृहस्थी सब कामों में निपुण है। बड़े घर में ब्याही है। पति प्रतिष्ठित डाक्टर हैं। कहीं कुछ अभाव नहीं है ; परन्तु फिर भी उसका मन भूखा ही रह गया है। पृथ्वी के जलवायु में जो एक अपनेपन की भूख साकार है, पृथ्वी की नारी वह, उस क्षुधा से अचूकी कैसे रह जा सकती है ? उसी अपनेपन की क्षुधा से विकल रूपरेखा के सामने आ गई जब अपनेपन की पुकार, तो वह चुप भी न बैठ सकी। दुर्भिक्षपीड़ित की भाँति दोनों हाथों से उसने उसे समेट लिया। बदहजमी का विचार जाता रहा।

रूपरेखा जरा और खिसकर, पृथीश से प्रायः लगकर बैठ गई। पूछा—भाई साहब, चुप क्यों हो गये ? बचपन में मुझे वीरत्व की बातें बड़ी अच्छी लगती थीं। कहो, वहाँ गोले बारूद की कैसी वर्षा होती थी ? तुम युद्ध कैसे करते थे ? मशीनगन की उस भीषण आवाज से बहरे नहीं हो जाते थे ?

'नहीं भाभी। सुनी है तुमने कभी एक साथ हजारों बिजली की कड़क ? नहीं ? यदि सुनतीं तो उस नाद को तुम समझ सकतीं। उसी शब्द से सैनिकों का खून उबलने लगता था। हमारा ठण्डा खून गरम हो जाता था। वही तो जीवन का सच्चा आनन्द है भाभी। बड़ा मजा था। जाने कितने मीलों तक कभी भूखे प्यासे चलना पड़ता। थक जाते थे ? नहीं नहीं, कहाँ की

भूख कहाँ की प्यास ! कभी खुद लुट जाय, कभी खाने का सामान चुक जाय, तब घोड़े का मास भी अमृत के समान लगता था।'

'घोड़े का मांस ! सुन रही हो सविता बहन ?'

हँसकर पृथीश ने कहा—सविता क्या सुने। वह तो जाने कितनी बार सुन चुकी है। वहाँ की बात मुझसे ज्यादा सुन्दरता से वह कह सकती है।

'ऐसा, क्यों सविता बहन ?'

'हाँ, रेखा दीदी। वहाँ के दृश्य मैं आँखें बन्द कर देख लेती हूँ। उन कटे, जले और अधमरों को देखकर मुझे रोना आ जाता है ?'

व्यङ्ग से रूपरेखा ने कहा—रोना ? परन्तु मुझे खुशी होती है। यही तो जीवन है। यदि मैं भी कभी युद्ध में जा सकती तो कितना अच्छा होता !

स्नेहपूर्ण नेत्र से पृथीश ने सविता को देखा फिर कहा—जाने दो इन बातों को। सविता का मन बड़ा नरम है। इधर सुनना भी चाहिए उधर रोना भी। जाने ऐसा शिशु-सा मन लेकर वह पृथ्वी में कैसे रहेगी, मुझे उसके लिए डर लगता है भाभी, संसार उसे समझने में कहीं गलती न करे। यदि ऐसा हुआ तो यह छोटी चिड़िया...पृथीश चुप रह गया।

उसकी अर्द्धसमाप्त युक्ति में सविता के लिए कितना गम्भीर स्नेह भरा रह गया, जिसे विचारकर रूपरेखा के नेत्र ईर्ष्या से जल-से उठे। इस अपढ़, अशिक्षिता, मोम सी अशक्त और भीरु लड़की के लिए स्नेह, सम्मान का ऐसा श्रेय-अर्घ्य ?

रूपरेखा कहने लगी—युद्ध के वीरतापूर्ण मैदान के लिए आँसू बहाना याने उस वीरता का अपमान करना है। जगत् के दीन, दुःखी, असहाय के लिए नारीमात्र के मन में एक स्वतः सिद्ध करुणा, सहृदयता रहती है पृथीश बाबू ! न इसमें कोई विस्मय है और न यह कोई सराहने की बात है। परन्तु युद्धप्राङ्गण के लिए आँसू बहाना—मैं तो उसे भीरुता, लड़कपन के सिवा कुछ नहीं समझ सकती।

उत्तर प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही रूपरेखा उठकर खड़ी हो गई—तुम्हारा जी कल से ज्यादा खराब है सविता, मैं जलपान लिये आती हूँ।

रूपरेखा के इस सहसा पलायन का अर्थ समझकर पृथीश को एक धक्का सा लगा—उसकी भाभी, जिसे कि वह बहुत कुछ समझे हुए था—वह मात्र एक घर गृहस्थिन स्त्री ही है ? उसके ऊपर ? नहीं, उसके ऊपर और कुछ भी नहीं। और सविता ? वह है शिशु। और यह शिशुत्व ही उसका सौन्दर्य है, रूप है, गर्व है।

रूपरेखा के इस अद्भुत आचरण से सविता का मन दुःखी हुआ। वह कुछ समझी, न समझी। मन के भीतर एक अस्वच्छन्दता-सी लगने लगी। परन्तु इसके लिए न उसने किसी पर अनुयोग किया न तर्क-वितर्क।

'जी अच्छा नहीं है सविता ? कल मैंने कुछ भी नहीं सुना। क्या हुआ है ?'—पृथीश ने पूछा।

'थोड़ा बुखार चढ़ आया था। आज नहीं है।'

'बुखार रहा ? इन दिनों तुम दुबली होती जा रही हो। प्रायः ज्वर हुआ करता है। अभी तो मुझे क्वेटा जाना है। वहाँ से लौटकर तुम्हें कहीं हवा बदलने ले चलूँगा।'

'हवा बदलने ? तो चलो न पृथीश भैया।'

उस आर्त स्वर को सुनकर पृथीश चौंका।

हठात् उसने पूछा—क्यों, यहाँ क्या तुम्हें कुछ तकलीफ है सविता ? मुझे लगता है तुम यहाँ से भागना चाहती हो ?

नहीं-नहीं, मैं यहीं रहना चाहती हूँ।'—सविता सिहरी, संयत स्वर से बोली।

उसने इस जोर के साथ कहा, जिसे सुनकर पृथीश स्तब्ध रह गया। वह सविता को विस्मित दृष्टि से देखने लगा। जिस तीक्ष्ण दृष्टि के नीचे सविता जड़-सी रह गई। सविता को लगने लगा—पृथीश की वह अन्तर्भेदी दृष्टि उसके मन की गुप्त वार्ता तक को पढ़ लेगी। जिस वार्ता को वह जगत् से गुप्त रखना चाहती है, उसे बाहर खींच लायेगी—वह दृष्टि।

'परन्तु यहाँ रहना कैसे हो सकेगा सविता ? शादी के बाद तुम्हें मेरे साथ रहना पड़ेगा। मैं अपनी धर्मपत्नी को किसी के घर कैसे रख सकता हूँ ?

कितनी कहानी सुनोगी तुम ? मैं तुम्हें नित नई कहानी सुनाया करूँगा। और उसी कहानी के भीतर एक कहानी-सा अपना जीवन बीतता रहेगा। और दुनिया की सब वस्तुओं के परे मेरे मन, प्राण, शरीर के ऊपर तुम रहोगी रानी होकर सविता। एकच्छत्र तुम्हारा अधिकार वहाँ रहेगा। न वह कहानी कभी चुकेगी और न हम-तुम कभी चुकेंगे। सुन रही हो न सविता ?'—पृथीश ने कहा।

सविता के जड़प्राय मन में चेतना लौटी। साहस के साथ उसने पृथीश की ओर देखा। तब उसके नयन में न लज्जा की छाया थी, न भय की भीरुता, न संकोच शंका। बोली—छोटी बहन का अधिकार यदि तुमने कभी दे दिया था, तो उस अधिकार को पृथ्वी की आवर्जना में फेकने की चेष्टा मत करो। उस अधिकार को शुचिता के साथ रखने का अधिकार भी तो तुम्हीं को है न भैया।

विस्मय-विमूढ़ नेत्रों से पृथीश उसे देखने लगा—मिलन की वेला में यह छोटी बुलबुल कौन-सी भैरवी अलापने लगी ? जब कि सब कुछ तय पा चुका है, विवाह का दिन तक निश्चित हो गया है, तो यह क्या से क्या कहने लगी ?

'क्या कह रही हो सविता, जरा साफ कहो।'—पूछा पृथीश ने।

'विवाह नहीं कर सकती।'—परिष्कृत कंठ से वह बोली।

देर के बाद पृथीश बात कर सका तो कहने लगा—यदि ऐसा था, तो पहले क्यों न कह दिया ? व्यर्थ की झंझट में मैं क्यों पड़ता ? ठीक है, स्त्री-चरित्र स्वयं ईश्वर भी नहीं समझ सकते। फिर मैं तो मनुष्य ही ठहरा।

'मैं तुम्हें दुःख देना नहीं चाहती थी भैया ; परन्तु जो होने का नहीं सो कैसे हो सकता है ? मैं निरुपाय हूँ।'—व्यथा से उसका स्वर रुँध-सा गया।

पृथीश हँसा। ऐसी हँसी, मानों पूरी शक्ति उसने हँसी में भर दी हो। हँसी रुकी तो एक गुब्बारे-सा वह फट पड़ा—अब इस मौखिक विनय की जरूरत नहीं है सविता। तुम-सी स्त्री मुझे बहुत मिल जायेंगी। वह तो कमलेश के अनुरोध से मैं राजी हो गया था। वरना तुम-सी भीरु, डरपोक, अपढ़ लड़की मेरे किस काम आती ?

क्षोभ से सविता तिलमिला उठी। अपमान से उसकी नसें तन गईं। वह

कुछ कहने को हुई, तब तक मुँह पर हँसी लिये, जलपान की रकेबी थामे रूप-रेखा पहुँच गई—देर तो नहीं लगी भाई साहब ?.लीजिए ।

छोटी तिपाई उसने पृथीश के सामने रख दी, उस पर रकेबी रख वह सामने बैठ गई ।

'तुम एक कप चाय पी लो सविता । लाने के लिये कह आई हूँ ।'—रूप-रेखा ने सविता से कहा ।

'तुम्हारे सब काम कैसे अच्छे, शृङ्खला-बद्ध होते हैं भाभी । नमकीन के साथ कटहल का अचार भी न भूलीं ।'

खुशी से रूपरेखा मचल-सी पड़ी । पृथीश उससे हँसकर बातें करने लगा । बातों में दोनों ऐसे लगे कि सविता का अस्तित्व तक बिसर गये ।

और सविता ? आर्त दीर्घ श्वास को हृदय में दबाकर वह भाग निकली ।

रात्रि में सत्यभामा के निकट बैठी बैठी सविता बोली—यह सब रोक दो मा ।

'कौन सी बात ?'—सत्यभामा ने पूछा

सब कुछ कहने सुनने के लिए प्रस्तुत होकर वह आई थी । झूठ और सच सब बातों को कहेगी और जरूर कहेगी ।

'यही शादी की बात । रोक दो इसे ।'

'रोक दूँ शादी ? क्या कहती है सतिया । हिन्दू की लड़की कहीं काँरी रही है ?'

'परन्तु दो बार यदि शादी हो तो पाप न लगेगा ?'

'जरूर लगेगा ।'

'फिर मेरी शादी क्यों कर रही हो ?'

'तू क्या विवाहिता है ?'

'हाँ, अम्मा !'

'ऐसा ! तो मुझसे पहले क्यों न कह दिया ?'

'कह तो रही हूँ ।'

'मेरे जमाई कहाँ हैं ? यह कौन-सी शर्माने की बात थी, जो अब तक तूने कही नहीं ? मुझसे तो बता देती । बता जल्दी, वह कहाँ हैं ?'

'सो मैं नहीं जानती अम्मा।'

'नहीं जानती ? कैसी लड़की है।'—इसके बाद सोच विचारकर सत्यभामा कहने लगीं—मैं समझती हूँ; बचपन में तेरे बाप ने शादी कर दी होगी। यही बात है न ?

सविता चुप रही।

गृहिणी ने पूछा—तेरा पति कभी घर पर आया था ?

'नहीं।'

'कहाँ रहता है ?'

'मैं क्या जानूँ।'

'नाम धाम कुछ जानती है ?'

'नहीं जानती अम्मा।'

'कैसी बे सिर पैर की बात करती है ?'

गृहिणी की बातों से सविता को कहने के लिए एक अवलम्बन सा मिल गया। झूठ कहने का डर जाता रहा, बोली—बचपन में परदेश में मेरी शादी कर पिता लौट आये थे। उसके बाद उनका पता न चला। वे बातें एक स्वप्न-सी कुछ याद हैं। तब मैं बहुत छोटी थी।

गृहिणी सस्नेह उसके सिर पर हाथ फेरने लगीं। बोलीं—पहले कह देती तो इतना बखेड़ा क्यों होता ? जाने दे। यदि वह निर्मोही खोज खबर नहीं लेता, तो न ले। मा को बेटी भारी नहीं होती। अच्छा किया तूने कह दिया बेटी। मेरी सतिया आजकल की लड़कियों-सी थोड़े ही है। वह पाप पुण्य, धरम करम मानती है। लेट जा मेरे पास। कहानी कहूँ।

[ २१ ]

वर्षा के अन्तिम श्वास में पृथ्वी फूली न समा रही थी। जलसिक्त पवन में भींगी मिट्टी की गन्ध भरी थी। उसी गन्ध में बसी-सी पूरवी अपनी अटारी में बैठी थी—मदिरा भरी प्याली आँखों में लिये, कलश भर छल अधर में लिये। और हृदय में ? हृदय की बात तो वही जाने। चाहे छल रहा हो, खुशी रही

हो, कौतुक, घृणा रही हो, या तो आँसू रहे हों और नहीं तो किसी पथिक के पदचिह्न ही रहे हों। जाने वह—और जाने उसका मन।

बड़ा-सा कमरा। फर्श पर मूल्यवान गलीचे बिछे थे। बिजली का उज्ज्वल प्रकाश। लोहबान की सुगन्ध। मोटे-मोटे मखमली तकियों के सहारे गोल-मटोल सेठजी सपरिषद् विराजमान थे। सामने भाव-विलासमयी बाईजी पूरवी बैठी थीं। बीच में इलायची, पान आदि की चाँदी की रकेबी। बाईजी के पीछे सारङ्गी-वादक, तबलची आदि।

शराब ? नहीं ; पूरवीबाई के घर शराब निषिद्ध थी। गाना वह सबको सुनाती। जी चाहे बाहर से शराब पीकर आओ ; किन्तु उसके घर पर शराब कोई नहीं पी पाते थे। कुछ लोग झुँझलाते, पीछे उसे गालियाँ देते, उसके घर न आने की सौगन्ध खाते। किन्तु दूसरे दिन वही लोग चले आते। जरूरत पड़ती तो बाहर जाकर शराब पीते। पैसों की कमी पूरवी को नहीं थी। यदि कोई अभिमानी उसके घर न आता तो उसकी परवा उसे न रहती।

हथौड़ी मार-मारकर तबलची तबले को ठीक करने लगा। खूँटियाँ कस-कस बेसुरी सारङ्गी को वादक ने सुर में मिला लिया। मुसकराकर पूरवी ने तान छेड़ दी। रास्ते के ऊपर पूरवी का घर था। अचानक रास्ते पर कोलाहल मचा। बैठे मनुष्य ऊपर के छज्जे पर से झाँकने लगे। पूरवी भी झुककर देखने लगी। पता चला मोटर-एक्सीडेन्ट हो गया है। पूरवी के द्वार के सामने एक व्यक्ति पड़ा हुआ था और उसे जनता घेरे खड़ी थी, टूटी टैक्सी कुछ दूर पड़ी थी।

यद्यपि सन्ध्या की धूसर छाया में आहत व्यक्ति साफ नहीं दीख रहा था, तथापि पूरवी पृथीश को पहचान ही गई।

पूरवी को नीचे उतरते देखकर नौकर-चाकर उसके पीछे हो लिये। सेठजी पुकारते ही रह गये—तुम कहाँ जाती हो बाईजी, वहाँ जाकर क्या करोगी ?

तब तक पूरवी भीड़ में जाकर खड़ी हो गई और नौकरों की सहायता से बेसुध पृथीश को उठा ले चली।

प्रश्नों की वर्षा-सी होने लगी। परिचित अपरिचित सब लोग पूरवी से

पूछने लगे —इन्हें तुम पहचानती हो ? पूरवी का उत्तर संक्षिप्त-सा रहा—हाँ, यह मेरे आत्मीय हैं।

अपने पलंग पर पृथीश को लिटाकर पूरवी उसके मुँह पर पानी के छींटे मारने लगी।

विरक्त सेठजी ने कहा—राहगीरों के लिए यह दर्द अच्छा नहीं होता बाईजी ! कितने अभागे मरते रहते हैं, किन-किन की सुध लेती फिरोगी ? अवज्ञा की दृष्टि से पूरवी ने उस ओर देख भर दिया। कार लेकर नौकर तब तक डाक्टर को लेने के लिए चल चुका था। पूरवी पृथीश के सिरहाने बैठकर पंखा झलने लगी।

थोड़ी देर के बाद पृथीश ने आँखें खोल दीं। आघात अधिक नहीं था। आँखें खोलीं और अचम्भे से चहुँ ओर देखने लगा।

सेठजी ने जल्दी से कहा—अब तो यह अच्छा है। चलो बला टली। इसे जाने के लिए कह दो और चलकर दो चार चीजें सुना दो।

'आप आज चले जाइए सेठजी, मुझे वक्त न मिलेगा।'—विरक्ति से पूरवी का स्वर रूढ़ हो रहा था।

'सो क्यों बाईजी ?'—तोंद पर हाथ फेरता सेठ सामने खड़ा हो गया।

पृथीश ने आँखें उठाकर पूरवी को देखा। उसे पहचान सकने के साथ ही साथ वितृष्णा उसके नेत्रों में साकार हो गई।

'किसी की साँस मेरी ही आँखों के सामने घुँटती हो और मैं किसी को गाना सुनाने बैठ जाऊँ, ऐसा नहीं हो सकता सेठजी।'—पूरवी ने कहा।

विस्मय से पृथीश पूरवी को देखने लगा।

'यह व्यक्ति तुम्हारा कौन है ?'—क्रोध से सेठजी का मुँह लाल पड़ गया।

'सब कोई।'—वह अनायास कह उठी—सब कोई। इस छोटे उत्तर को सुनकर सेठजी के साथ पृथीश भी चौंका। पृथीश को भी यह उत्तर खराब लगा। एक वेश्या, जिसकी छाया से उसे घृणा है. वही वेश्या दुनिया के सामने उसकी सब कोई होने का दावा लेकर खड़ी हो जाय ? अन्धेर ही तो है। और वह एक भद्र होकर ऐसी बातों को सह नहीं सकता। प्रतिवाद

Appreciation.

(पाठकों से निवेदन है कि पुस्तक गंदी करने की बजाय अपना अपना वक्तव्य इधर ही लिखे।)

2. यह पुस्तक हिंदी साहित्य में एक अनमोल पुस्तक है। किसी व्यक्ति मनुष्य की मनोवैज्ञानिक स्थिति का वर्णन जैसे इस पुस्तक में किया गया है वह तो उल्लेखनीय है। श्रीमती [illegible] देवी मित्रा को ऐसी कृति लिखने के लिए धन्यवाद देने बिना कोई भी नहीं रह सकता। भाषा शैली प्रशंसनीय है। हिंदी शब्दों का प्रयोग इस योग्यता से किया गया है कि चित्त प्रसन्न हो जाता है।

[illegible]